

के श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गी जयतः ॥

* स्वदेहितः पुनां विष्वकूप कथाम् । चम्भः	<p>स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरवोच्चजे ।</p>  <p>अहंतुकप्रतिहता यथात्मासुप्रसीदति ॥</p>	गोपवेद वदि रति अम वदि कृष्णम् ॥ = = = = =
<p>सर्वोक्तुष्ठ धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक । सब धर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर । भक्ति अधोचज की अहंतुकी विष्वशूल्य अति मंगलदायक ॥ किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो, अम इयर्थ सभी, केवल वंशनकर ॥</p>		
वर्ष ५	गौराब्द ४७४, मास—त्रिविक्रम ३, वार-क्षीरोदशायी शनिवार, ३१ वैशाख, सम्वत् २०१७, १४ मई १९६०	संख्या १२

श्रीकृष्ण-स्तोत्रम्

वन्दे नवघनश्यामं पीत-कौपेय-वाससम् ।
 सानन्दं सुन्दरं शुद्धं श्रीकृष्णं प्रकृतेः परम् ॥१॥
 राघेशं राधिका-प्राण-वल्लभं वल्लभी सुतम् ।
 राधा-सेवित-पादाङ्गं राधा-वक्षःस्थल-स्थितम् ॥२॥
 राधानुगं राधिकेष्टं राधापहुत-मानसम् ।
 राधाधारं भवाधारं रुद्धाधारं नमामि तम् ॥३॥
 राधाहृतपद्ममध्ये च वसन्तं सन्ततं शुमम् ।
 राधा सहचरं शशवत् राधाङ्गा-परिपालकम् ॥४॥
 ऋषायन्ते योगिनो योगात् सिद्धाः सिद्धे श्वराश्च वम् ।
 तं ध्यायेत् सततं शुद्धं भगवन्तं सनातनम् ॥५॥

सेवन्ते सततं, सन्तो ब्रह्मे श-योग-संज्ञकाः ।
 सेवन्ते निर्गुणं भगवन्तं सनातनम् ॥६॥
 निलिङ्गप्रभा निरीहङ्ग परमात्मानभीश्वरम् ।
 नित्य सत्यत्वं परमं भगवन्तं सनातनम् ॥७॥
 यं सहे रादिभूतत्वं सर्ववीजं परात्परम् ।
 बीजं नानावस्तारानां सर्वकारण-कारणम् ॥८॥
 वेदावेदं वेदबीजं वेद-कारण-कारणम् ।
 योगिनस्तं प्रपश्यन्ते भगवन्तं सनातनम् ॥९॥
 हति तेन (गन्धर्वेण) कृतं स्तोत्रं य पठेत् प्रयतः शुचिः ।
 हृदैव जीवन्मक्षश्च परे याति पश्च गतिम् ॥१०॥
 हरिभक्तिं हरेदास्यं गोलोके च निरामयः ।
 पार्षद-प्रवरतत्वत्वं छमते नात्र संशयः ॥११॥

श्रीनारदपूर्वकारात्रे द्वादशोऽप्यार्थ
 (लोक ६७ से ७८ तक)

अनुवाद—

उपवर्हण गन्धर्व (श्रीनारदजी) ने कहा—नव-
 घनश्याम, पीत- कौशेय (पीले रंगके रेशमी) वसन
 धारी, आनन्दमय, परम सुन्दर, परम पवित्र, जड़ा
 प्रकृति से परे श्रीकृष्णको मैं प्रणाम करता हूँ ॥१॥

जो श्रीमती राधिकाके प्रियकान्त हैं, राधिकाके
 प्राण-वल्लभ हैं, जो खलावी अर्थात् यशोदा नामक
 गोपीके पुत्र हैं, जिनके श्रीचरणकमल श्रीमती राधा
 द्वारा पूजे गये हैं तथा उनके वक्षःस्थल पर धारण
 किये गये हैं, जो राधाके पीछे-पीछे चलनेवाले हैं,
 जो राधाका ध्यान करते हैं, जिनका चित्त श्रीमती
 द्वारा चुरा लिया गया है, जो श्रीमती राधाके आधार
 हैं, विश्वके आधार हैं और सबके आधार हैं, उन
 आपको (श्रीकृष्णको) मैं प्रणाम करता हूँ ॥२-३॥

जो श्रीमती राधिकाजीके हृदय-कमलमें नित्य
 विराजित हैं, जो सबका कल्याण करते हैं, जो राधिका
 के चिर-सहचर हैं और उनकी आङ्गो-पालनकारी हैं,
 सिद्ध, सिद्धेश्वर और योगीजन समाधिमें जिनका
 निरतर ध्यान करते हैं, उन विशुद्ध सत्त्वमय सनातन
 भगवान्का मैं ध्यान करता हूँ ॥४-५॥

ब्रह्मा, शिव और अनन्तदेव जिनकी सदा सेवा
 करते हैं, साधुजन जिनके अप्राकृत (निर्गुण) पर ब्रह्म-
 रूप भगवन्तस्यरूपकी सेवा करते हैं, जो निर्लेप,
 निरीह, परमात्मा हैं और जो निःय, सत्य परमेश्वर
 हैं, उन सनातन भगवान्की मैं बन्दना करता हूँ ॥६-७॥

जो सृष्टिके आदि कारण हैं, जो सम्पूर्ण
 बीजोंके भी बीज-कारण हैं, जो परात्पर-तत्त्व हैं,
 जो निखिल अवतारोंके भी बीज-स्थरूप हैं, सब
 कारणोंके भी कारण हैं, निखिल देवताओंके भी
 अगोचर हैं, वेदके बीज-स्थरूप हैं तथा वेदके मूल
 कारण हैं, (भक्त) योगीजन उन्हीं सनातन भगवान
 का भजन किया करते हैं ॥८-९॥

जो गन्धर्व (श्रीनारद) कृत इस स्तोत्र का
 पवित्र होकर संयत चित्तसे नियमितरूपमें पाठ करते
 हैं, वे इस लोकमें जीवन्मुक्त हैं तथा शरीर त्यागनेके
 पश्चात् नित्य गोलोकमें उत्तम गति—हरिभक्ति,
 हरिके दासत्व और पार्षदत्वको प्राप्त होते हैं—इसमें
 तनिक भी संदेह नहीं है ॥१०-११॥

संत (सज्जन) के लक्षण

दङ्ग-२५

'दङ्ग' शब्दका अर्थ 'निपुण' है। विषयी लोग भोगोंमें आसक्त होकर उसकी प्राप्तिके लिये जह कर्मोंमें अपनी निपुणता प्रदर्शन करते हैं; परन्तु विज्ञनोंकी हाइमें वह निपुणता नहीं, भव-बन्धनकी रसी है। विषयोंसे विरक्त सज्जन साधारण लोगोंकी हाइमें कर्मोंमें निपुण भले ही न प्रतीत हों, परन्तु चास्तवमें वे हरिसेवाके समस्त कार्योंमें वह दङ्ग होते हैं। वे अपने भक्ति सिद्धान्तोंके बल पर कर्मी, ज्ञानी और अन्याभिलापियोंकी तथाकथित निपुणताकी हेतु प्रमाणित करनेमें भी दङ्ग होते हैं। वे सदा-सर्वया अनुशूल कृष्णानुशीलनमें तत्पर होते हैं।

जो व्यक्ति कुक्मियोंकी तरह असक्तमोंमें प्रवृत्त नहीं होता अथवा वह पुरायमय कर्मवीरोंकी तरह व्यय होनेवाले भक्त भोगोंकी आशासे सक्तमोंमें प्रवृत्त नहीं होता, मोक्षका भी प्रयास नहीं करता वरन् भोग और त्यागकी कामनाओंको सर्वथा दूर कर भगवत् कार्योंमें संलग्न रहता है, वसे अवैष्णव लोग तैष्कर्मयादी कह सकते हैं; परन्तु चास्तवमें वही व्यक्ति सबसे अधिक दङ्ग है।

सज्जन वेदज्ञ और शास्त्र-पारद्वात होते हैं। जड़ीय प्रतिष्ठा और पाप-पुण्य उनको मोहित नहीं कर सकते हैं। वे सर्वश्रेष्ठ एर्मवीर होने पर भी जड़ीय कर्मवीरोंकी जड़ीय कर्म-निपुणताके प्रति उदासीन होते हैं। यही उनकी सर्वोच्च दङ्गताका परिचय है। वे अप्राकृत कवि होते हैं, अप्राकृत विद्वान् होते हैं; जह कवियों और विद्वानोंसे उनकी कोई तुलना नहीं।

सज्जन अपनी दङ्गताका जगत्‌में प्रचार नहीं करते। इसलिये साधारण व्यक्ति उनके गुणोंको देख नहीं पाता। भगवान्‌की कृष्ण होने पर द्रष्टाके हृदयमें भगवद्भक्तिका संचार होने पर वह सज्जनोंकी दङ्गताका पक्षपाती हो सकता है। सज्जनोंकी कुकर्मोंमें प्रवृत्ति नहीं होती। कुकर्मोंसे बचनेकी दङ्गता उनमें होती है। वे भगवद्भिर्देषी असदूव्यक्तिकी उपेक्षा करते हैं। वे वैसी उपेक्षा द्वारा ही अपनी दङ्गताको श्रेष्ठता प्रमाणित करते हैं।

श्रीमन्महाप्रभु और उनके सेवकोंने श्रीहरिभक्तिका प्रचार करनेमें जिस दङ्गताका परिचय दिया है, उसे विद्वन्मण्डली भर्तीभाँति जान चुकी है। उनकी दङ्गताका ही यह परिणाम है कि भारतवर्षमें आज जगभग दो करोड़ लोग गौड़ीय वैष्णवके नामसे अपना परिचय देते हैं।

उपरोक्त दो करोड़ लोगोंमें से सभी शुद्ध वैष्णव और दङ्ग हैं, ऐसी बात नहीं है। बल्कि उनमेंसे जो सुदृढ़ हैं, वे ही शुद्ध भक्ति-पथका आदर करते हैं और ब्रह्माएङ्ग स्थित जीव मात्रको ही वैष्णव समझते हैं। पारिषद्य प्रतिभामें श्रीजीव गोस्वामीका नाम, काव्य-रचनामें श्रीरूप गोस्वामी और प्रबोधानन्द सरस्वतीके नाम, असाधारण दैन्य और नम्रता प्रदर्शनमें तथा भगवद्भक्तिकी सहायता करनेमें उत्कल नरेश प्रतापरुद्रका नाम, श्रीवैष्णव धर्मप्रचारमें श्रीभक्तिविनोद ठाकुरका नाम दङ्गताके गगनमें सूर्य-की भाँति उज्ज्वल हैं।

—ॐविष्णुपाद श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी

अभिधेय विचार-भक्ति

अभिधेय विचारसे भक्तिको सर्वश्रेष्ठ साधन माना गया है। महर्षि शाहिंदल्यने भक्तिकी परिभाषा निम्नलिखित सूत्र द्वारा व्यक्त की है—

‘भक्तिः परानुरक्तिरीश्वरे ।’

ईश्वरके प्रति उत्तम अनुरक्तिको भक्ति कहते हैं। बद्धजीवात्माकी परमात्माके प्रति अनुरक्तिरूप जो चेष्टा होती है, वही भक्तिका स्वरूप है। वह चेष्टा किंचित परिमाणमें कर्मरूपा और किंचित परिमाणमें ब्रानरूपा होती है। भक्ति आत्मगत प्रीतिरूप धर्मके लिये साधन करती है। इसलिये इसे प्रीति नहीं कह सकते। प्रीति उत्पन्न होने पर ऐसा समझना चाहिए कि भक्ति परिपक्व अवस्थामें पहुँच गयी है। भक्तिका साङ्घोषाङ्ग विचार करना इस त्रुट्रु लेखमें संभव नहीं। यहाँ संक्षेपमें मूल-तत्त्वका विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है। पाठक मूल तत्त्वको जानकर शाहिंदल्य-सूत्र और भक्ति-रसामृत-सिन्धु आदि भक्ति शास्त्रोंके अध्ययन द्वारा भक्तिका विस्तृत स्वरूप जान सकते हैं।

प्रीतिकी भाँति भक्तिकी भी दो प्रवृत्तियाँ हैं— ऐश्वर्य प्रवृत्ति और माधुर्य प्रवृत्ति। भगवानकी महिमा और ऐश्वर्य द्वारा आकृष्ट होने पर जो भक्ति होती है, उसे ऐश्वर्य-भक्ति कहते हैं। भगवानके विराट ऐश्वर्यके प्रभावसे भगवत्तत्त्वमें असाधारण प्रभुता लक्षित होती है। तब परम ऐश्वर्यसे युक्त परमपुरुष सर्व-राज-राजेश्वरके भावसे जीवका कल्याण करते हैं। यह भाव क्लिंगक नहीं होता, वरन् नित्य और सनातन होता है। परमेश्वर स्वभावतः सम्पूर्ण ऐश्वर्योंसे पूर्ण होते हैं। उनको ऐश्वर्यसे पृथक् नहीं किया जा सकता है। परन्तु इस ऐश्वर्यसे भी अत्यन्त चमत्कारपूर्ण भाव उनमें स्वरूपसिद्ध होता है; वह स्वरूप-लिङ्ग भाव है—माधुर्य भाव। जिस समय भक्तिका माधुर्य भाव प्रबल होता है, उस समय

भगवत्-सत्ता में माधुर्यका प्रकाश हो पड़ता है तथा ऐश्वर्य भाव सूर्योदयके समय चन्द्रमाके प्रकाशकी तरह लुप्त हो पड़ता है। ऐश्वर्य भावके लीन होने पर वह भगवत् सत्ता परमोरुच रसका विषय हो उठती है। उस समय लावकका चित्त सख्य, वास्तव्य और मधुर रस तकका आश्रय करता है। भगवत् सत्ता भी उस समय भक्तोंके प्रति कृपालु, परमानन्दस्वरूप सबके मनको हरण करनेवाले श्रीकृष्णके स्वरूपमें प्रकाशित होती है।

नारायण सत्तामें कृष्ण सत्ताका उदय होता है, ऐसी बात नहीं है; बल्कि दोनों सत्ताएँ आश्वर्यरूपसे सनातन और नित्य हैं। भक्तोंके अधिकार और प्रवृत्तिके मेंदसे भगवत्-प्रकाशका भी भेद स्वीकार किया जा सकता है। आत्मगत पाँच प्रकारके रसोंमें सर्वोत्तम रसोंका आश्रय होनेके कारण भक्ति-तत्त्व और प्रीतिमें श्रीकृष्ण-स्वरूपकी सर्वोत्तमता मानी जा सकती है। श्रीकृष्ण संहितामें इस विषयका विशेषरूपसे वर्णन पाया जाता है।

भलीभाँति विचार करनेसे देखा जायगा कि एकमात्र भगवान ही परतत्त्वकी सीमा है। परतत्त्व एक होने पर भी उसके तीन प्रकाश हैं—

बद्धन्ति सत्तत्त्वविद्वद्वत्वं यज्ञानवद्यम् ।

ब्रह्मेति, परमात्मेति, भगवानेति शब्दयते ॥

(भा० १२ ११)

सबसे पहले व्यतिरेक चिन्ता द्वारा परतत्त्व मायातीत ब्रह्म प्रतीत होते हैं। ब्रह्मका अन्यथा-स्वरूप लक्षित नहीं होता, केवल व्यतिरेक स्वरूप ही ज्ञानका विषय हो उठता है। ज्ञानकी प्राप्ति ही ब्रह्म-जिज्ञासाकी सीमा है। इस तत्त्वमें आत्मादक और आत्माचक भेद नहीं होनेके कारण आत्मादन क्रियाका अभाव है।

अन्यथा और व्यतिरेक दोनों भावोंके समिश्रण होने पर आत्माके अवलम्बनसे परमात्मा लक्षित होते हैं। यद्यपि इसमें पृथक्ताका थोड़ा सा आभास पाया जाता है, तथापि सम्पूर्ण अन्यथा स्वरूपके अभावमें परमात्मा तत्त्व केवल कूट समाधि-योगके विषय होते हैं। इस तत्त्वमें आस्वादक और आस्वाद्यकी स्पष्ट रूपमें उपलब्ध नहीं होती।

अतएव भगवान् ही एकमात्र आनुशीलनके विषय हैं—उक्त श्लोक द्वारा यही सूचित होता है। भगवान्-में समस्त गुण सम्पूर्ण रूपमें प्रकाशित होते हैं। सम्पूर्ण गुणोंसे युक्त यह भगवत् तत्त्व विशुद्ध जीव-समाधिमें प्रकाशित होता है। ब्रह्म या परमात्मा तत्त्वमें भगवानका एक-एक गुण ही कल्पित होता है। इसलिये समस्त प्रकारके परमार्थ-स्वरूपोंमें भगवत्-तत्त्व ही सर्वशेष तत्त्व है। इसीलिये इस तत्त्वको प्रकाश करनेवाली परमहंससंहिताका नाम 'भगवत्' हुआ है। विष्णु पुराणमें भगवत् तत्त्वकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य वशसः क्रियः ।
ज्ञान वैश्वर्योऽसैव पवर्यां भग इतीक्ष्णा ॥

समग्र ऐश्वर्य, वीर्य, वश अर्थात् मङ्गल, श्री अर्थात् सौन्दर्य, ज्ञान अर्थात् अद्वयत्व एवं वैराग्य अर्थात् अप्राकृतत्व—इन छहोंका नाम गुण है। जिसमें ये छहों गुण सम्पूर्ण रूपसे प्रकाशित रहते हैं, वे भगवान् हैं। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि भगवान् केवल गुण अथवा गुणोंकी समष्टि ही नहीं है, बल्कि भगवानका एक स्वरूप है, जिसमें ये समस्त गुण स्वाभाविक रूपमें न्यस्त हैं। उक्त छः गुणोंमेंसे ऐश्वर्य और श्री ये दोनों भगवत् स्वरूपके साथ मिलकर एक प्रतीत होते हैं। दूसरे चारगुण गुणके रूपमें प्रकाशमान होते हैं।

ऐश्वर्यात्मक स्वरूपमें आस्वादनका अंश बहुत ही थोड़ा होता है। सौन्दर्यात्मक स्वरूपमें आस्वादनका अंश अधिक होनेके कारण वह अधिक आश्वर्यक और प्रिय होता है। इसमें एकमात्र भाधुर्यका प्रादुर्भाव

लक्षित होता है। दूसरे पाँच गुण इसी स्वरूप (श्री) में गुणके रूपमें परिलक्षित होते हैं। माधुर्य और ऐश्वर्य इन दोनोंमें स्वभावतः एक विपर्ययक्रम दिखलायी पड़ता है। अर्थात् जहाँ ऐश्वर्यकी अधिकता होती है, वहाँ माधुर्यकी कमी होती है। जिस परिमाणमें एककी अधिकता होती है, उसी परिमाणमें दूसरेकी कमी होती है।

माधुर्य-स्वरूपके सम्बन्ध में खूबी यह है कि उसमें आस्वादक और आस्वाद्य दोनोंकी ही स्वतंत्रता और समानता स्वीकृत होती है। ऐसी दशामें आस्वाद्य वस्तुकी ईश्वरता, ब्रह्मता और परमात्मताकी तनिक भी हानि नहीं होती। इसका कारण यह है कि परमतत्त्व स्वयं अवस्थाशून्य होने पर भी आस्वादकोंके अधिकार भेदसे भिन्न-भिन्न स्वरूपोंमें प्रकाशित रीत पड़ते हैं। माधुर्यरसकदम्ब श्रीकृष्ण स्वरूप ही एकमात्र स्वावीन भगवदनुशीलनका विषय है।

ऐश्वर्य आदि गुणोंसे रहित भगवदनुशीलनका कुछ फल होता है या नहीं ऐसा संदेह कर रासलीला वर्णनके प्रसङ्गमें महाराज परीक्षितने शुकदेव मुनिसे जिज्ञासा की थी—

कृष्णं विदुः परं कामं न तु ब्रह्मतया मुने ।
गुणप्रवाहोऽपरमस्तासां गुणविर्या कथम् ॥
(श्रीमद्भा० १०।२।३।१२)

उत्तमाधिकारमें पहुँची हुई रागात्मिका नित्य-सिद्धाओंकी श्रीकृष्ण-रासकी प्राप्ति स्वतःसिद्ध है। परन्तु कोमल अद्वावाले रागानुगाजन तो अभी निर्गुणताको भी प्राप्त नहीं हैं; उनका ध्यान आदि साधन भी गुणके द्वारा विकारमय होता है। मायिक गुणोंसे परे होनेके लिये ब्रह्मज्ञानकी आवश्यकता होती है। ऐसी दशामें गोपियाँ तो भगवान् श्रीकृष्ण-को केवल अपना प्रियतम ही मानती थीं; उनका उनमें ब्रह्माव नहीं था। फिर ऐसी हष्टि द्वारा उनके लिये गुणोंके प्रवाह रूप इस संसारकी निवृत्ति कैसे हुई—इसके उत्तरमें श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

उक्तं पुरस्तादेवते चैवः सिद्धि यथा गतः ।
द्विषत्प्रिणि द्विषत्प्रिणि किमुताधोच्चजप्तियाः ॥
नृणां निःश्रेयसार्थाय अवक्षिमगवतो नृप ।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निगुणस्य गुणात्मनः ॥
(श्रीमद्भागवत् १०.२६.१३-१४)

शिशुपाल भगवान् के प्रति हृषि भाव रखने पर भी अपने प्राकृत शरीर को छोड़कर सिद्धि को प्राप्त हुआ था, ऐसी स्थितिमें जो समस्त प्रकृति और उसके गुणोंसे अतीत भगवान् श्रीकृष्ण की प्रियतमा है और उनसे अनन्य प्रेम करती है, वे गोपियाँ उन्हें प्राप्त हो जाय—इसमें कौनसी आश्चर्यकी बात है। यदि कहो भगवान् की अव्ययता, अप्रमेयता, निगुणता और अप्राकृत गुणमयता—इन प्रेश्वर्यगत भावोंकी आलोचना नहीं करनेसे निर्त्यमङ्गल होनेकी संभावना कहाँ है, तो मेरा कहना यह है कि भगवत् सत्ता के माधुर्य-मय स्वरूप का व्यक्तित्व ही सबके लिये नितांत अर्थो-जनक है। प्रेश्वर्य आदि षड्गुणोंमें श्री अर्थात् भगवान् का सौन्दर्य ही सर्वशेष अवलम्बन है—श्रीशुकदेवजीके कथन का यही तात्पर्य है। अतएव जो इस रूप-सौन्दर्य का अवलम्बन करते हैं, वे चाहे उत्तम अधिकारी हों अथवा कोमल अद्वावाले कनिष्ठाधिकारी ही क्यों न हों—सबका परम कल्याण हो जाता है। कोमल अद्वावाले साधन के प्रभाव से पाप और पुण्यरूप कर्मज-गुणमय सत्ता को छोड़कर उत्तम अधिकारी होकर श्रीकृष्ण को प्राप्त होते हैं। परन्तु उत्तमाधिकारी उद्दीपन की उपलब्धिसे ही श्रीकृष्ण के रासमण्डल में प्रवेश कर जाते हैं। इसलिये श्रीभक्ति-रसामृतसिन्धु-प्रन्थमें भक्तिका लक्षण इस प्रकार कहा गया है—

अन्यानिकाधिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यनाशृतम् ।
आनुकृत्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुचतमा ॥
(च. र. सि. पूर्वलहरी ११४)

उत्तमा भक्तिका लक्षण है—‘आनुशीलन’। किसका अनुशीलन? ब्रह्मका, परमात्मा का अथवा नारायण का? नहीं—ब्रह्मका नहीं, क्योंकि ब्रह्म निर्वि�-

रोप चिन्ता का विषय है, भक्ति उसमें आश्रय नहीं पाती। परमात्मा भी नहीं, क्योंकि यह तत्त्व योग मार्गका विषय है, भक्ति मार्गका नहीं। नारायण भी सम्पूर्ण नहीं हैं, क्योंकि भक्तिकी सम्पूर्ण प्रवृत्तियाँ नारायणमें तृप्त नहीं हो पातीं।

जीवका ब्रह्मज्ञान तथा उसकी ब्रह्मतुष्णा दूर होने पर, सबसे पहले भगवत्-ज्ञानके उदय होनेके समय, शान्त नामक एक रसका आविर्भाव होता है। यह रस नारायणके लिये उपयुक्त होता है। परन्तु इस रसमें उदासीनताका भाव रहता है। जब नारायणके प्रति ममता उदय होती है, उस समय जीव और उपास्य तत्त्वमें परस्पर स्वामी और सेवकका भाव उत्पन्न होता है जिससे दास्य नामक द्वितीय रस उदय होता है। नारायण तत्त्वमें दास्य-रस तक ही संभव है, उन्नत रसोंकी संभावना नहीं होती है। इसका कारण यह है कि नारायण स्वरूप सख्य वास्तविक और मधुर रसोंका आश्रय नहीं हो सकता है। ऐसा किसका साहस होगा कि नारायणके गलेमें बाहें ढालकर कहे कि ‘सखे! तेरे लिये कुछ उस्तुर लाया हूँ, तू उम्मेले।’ कौन जीव नारायणको गोदमें बैठाकर अपने पुत्रके समान उनका चुम्बन करनेमें समर्थ होगा? अथवा ऐसा कौन होगा जो नारायणसे ऐसा कहे कि ‘प्रियतम! तुम मेरे प्राण-नाथ हो, मैं तुम्हारी पत्नि हूँ?’

महाराज-राजेश्वर परमैश्वर्य-पति नारायण कितने गंभीर हैं एवं ज्ञान जीव कितना दीन हीन है; उसके लिये नारायणके प्रति भय, संध्रम और उपासनाका भाव छोड़ना अत्यन्त कठिन ही नहीं, असंभव है। परन्तु उपास्य तत्त्व परम दयालु और विलास-परायण हैं। जब वे जीवोंमें उन्नत रसोंका उदय लक्ष्य करते हैं, तब कृष्णपूर्वक उपयुक्त उन्नत रसोंके विषय होकर जीवके साथ अप्राकृत लीलामें प्रवृत्त होते हैं। श्रीकृष्णचन्द्र ही भक्ति-प्रवृत्तिके पूर्णरूपसे विषय हैं।

अस्तु, कृष्णानुशीलन ही उत्तमा भक्तिका पूर्ण लक्षण है। उस कृष्णानुशीलनकी अपनी उन्नतिके

अतिरिक्त दूसरी कोई कामना नहीं होती। भोग और मोक्षकी कामना रहनेसे किसी भी प्रकार से उसकी उन्नति नहीं होती। अनुशीलन, स्वभावतः काम और ज्ञानरूपी होगा; परन्तु कर्मचर्चा और ज्ञान-चर्चा उस परम चमत्कारमयी सूदम प्रवृत्तिको आच्छादित न करें—इसका ध्यान रखना चाहिए। यदि ज्ञान उसे ढक लेगा, तो वह उसे ब्रह्मपरायण करके उसके स्वरूपको भी लोप कर दालेगा। और यदि कर्म उसे ढकता है, तब कर्म जीवके चित्तान्ते-साधारण स्थानों की भाँति कर्मजड़ कर अन्तमें श्रीकृष्ण उत्तरसे उसे

दूर हटा कर पापण्ड कर्मोंकी ओर लगा देता है। क्रोध आदि चेष्टाएँ भी अनुशीलन हैं। उन चेष्टाओं के द्वारा कृष्णानुशीलन करने पर कंस आदिकी तरह वैरस्य भोग करना पड़ता है। अतएव उस अनुशीलन को ऐसा बनानेकी आवश्यकता है कि वह प्रतिकूल अनुशीलन न हो पड़े। अनुकूल अनुशीलन ही उच्चामा भक्ति है, जिसमें कर्म, ज्ञान और अन्याभिलापका बिलकुल अभाव होता है।

—विष्णुराद् श्रीओमङ्गकिविनोद शास्त्र

—०००—

उपनिषद्-वाराणी

मुण्डक (१)

यह उपनिषद् अथर्ववेदकी शौनकी शाखाके अन्त गंत है। सर्वशक्तिमान परमेश्वरने सबसे पहले ब्रह्माको प्रकट किया। फिर ब्रह्मासे सब देवताओं, महर्षियों की उत्पत्ति हुई, ब्रह्माने भगवान् से ब्रह्मविद्या प्राप्तकी थी। उन्होंने उस ब्रह्मविद्याका उपदेश सबसे पहले अपने सबसे बड़े पुत्र अथर्वाको दिया था। अथर्वा उन्हिने वही ब्रह्मविद्या अङ्गी चृषिको और अङ्गी चृषिने भरद्वाज-वंशीय सत्यवाह नामक उन्हिनोंको चतुरायी। वही विद्या परम्परा क्रमसे अङ्गिरा चृषि-को प्राप्त हुई थी।

शौनक नामक एक प्रसिद्ध विद्वान् महर्षि थे। उनके अङ्गिरुलमें आठासी हजार अङ्गि विद्या अध्ययन करते थे। वे उत्तर्युक्त ब्रह्मविद्याको जाननेके लिये शास्त्रविधिके अनुसार हाथमें समिधा लेकर श्रद्धापूर्वक महर्षि अङ्गिराकी शरणमें आये। उन्होंने महर्षि अङ्गिरासे विनय पूर्वक पूछा—‘भगवन् ! जिसको भलीभाँति जान लेने पर यह जो कुछ देखने, सुनने और अनुमान करनेमें आता है, सबका-सब

जान लिया जाता है, वह परम तत्त्व क्या है ? आप कृपाकर उसका मुझे उत्तरेश दीजिये।’

इस प्रकार शौनकके पृश्ने पर महर्षि अङ्गिराने कहा—‘शौनक ! ब्रह्मको जननेवाले महर्षियोंका कहना है कि मनुष्यके लिये जानने योग्य दो विद्याएँ हैं—एक परा और दूसरी अपरा। उन दोनोंमेंसे जिसके द्वारा इस लोक और परलोक सम्बन्धी भोगों तथा उनकी प्राप्तिके साधनोंका ज्ञान प्राप्त किया जाता है, जिसमें भोगोंकी स्थिति, भोगोंके उपभोग करनेकी विधि, भोग-सामग्रीकी रचनाकी विधि और उनको पानेके लिये नाना प्रकारके साधन आदिका वर्णन है, उसे अपरा विद्या कहते हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद-और अथर्ववेद—ये चारोंवेद तथा छः वेदाङ्ग—सब-के-सब अपरा विद्या हैं। वेदोंमें नाना प्रकारके यज्ञोंकी विधिका और उनके फलका विस्तारपूर्वक वर्णन है। जगत् के सभी पदार्थोंका एवं विषयोंका वेदोंमें भलीभाँति वर्णन है। वेदोंका यथार्थ उच्चारण करनेकी विधि जिसमें है, उसे ‘शित्ता’ करते हैं।

जिसमें यहाँ-याग आदिकी विधि बतलायी गयी है, उसे 'करुप' कहते हैं। लौकिक और वैदिक शब्दोंका प्रकृति-प्रत्यय-विभाग पूर्वक शब्द-साधनकी प्रक्रिया, शब्दार्थ-बोधके प्रकार एवं शब्द-प्रयोग आदिके नियमोंके उपदेशका नाम 'व्याकरण' है। वैदिक शब्दकोषका नाम 'निरुक्त' है। वैदिक छन्दोंकी जाति और भेद बतलानेवाले मन्त्रका नाम 'छन्द' है। प्रद और नक्षत्रोंकी स्थिति, गति और उनके साथ हमारा क्या सम्बन्ध है—इन सब विषयोंका जिस मन्त्रमें वर्णन किया गया है, उसे 'उद्योतिप' कहते हैं। इस प्रकार चार वेद और छः वेदाङ्ग—ये सभी अपरा विद्या हैं।

जिसके द्वारा परब्रह्म पुरुषोत्तमका तत्त्वज्ञान होता है, उसे परा विद्या कहते हैं। उसका वर्णन भी वेदोंमें ही है और उस अंशको क्लोडकर अन्य सब वेद और वेदाङ्गोंको अपरा विद्याके अन्तर्गत समझना चाहिए। इतिहास और पुराणको पंचम वेद कहा गया है। इन सबमें जहाँ भोगों और उनकी प्राप्तिके लिये साधनोंके सम्बन्धमें उपदेश हैं, उसे अपरा विद्या और जहाँ के बीच परमार्थ सम्बन्धी उपदेश हैं, उसे परा विद्या समझना चाहिए।

अब परा-विद्या द्वारा जिसका ज्ञान होता है, उस अविनाशी ब्रह्मका स्वरूप क्या है—इसका उत्तर दे रहे हैं—जो ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जाने नहीं जाते, कर्म-निद्रियों द्वारा पकड़नेमें नहीं आते, जो गोत्र आदि उपाधियोंसे तथा ज्ञानाण आदि वर्णगत भेदसे रहित हैं, जो प्राकृत नेत्र, कान आदि ज्ञानेन्द्रियों और हाथ-पैर आदि कर्मनिद्रियोंसे रहित हैं, जो नित्य है, व्यापक है, सर्वगत है, अव्यय और भूत-समूहके मूल उद्गम है, वे ब्रह्म हैं। उनके प्राकृत इन्द्रियाँ और प्राकृत शरीर नहीं हैं, परन्तु उनको अप्राकृत इन्द्रियाँ और अप्राकृत शरीर हैं। धीर व्यक्ति अर्थात् ज्ञानी-जन समस्त प्राणियोंके कारण स्वरूप उस परब्रह्म परमेश्वरका दर्शन करते हैं।

प्राकृत पाणि-पादरहित होनेके कारण उनको अपाणिपाद कहा गया है; परन्तु अन्यत्र—

"अपाणिपादो जवनो ग्रहिता,
पश्यत्यच्छुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेत्ता न च तत्यादित्व वेत्ता,
तमाहुरग्रयं पुरुषं महान्तम् ॥"

—मन्त्रमें उनके पाणि-पाद आदि इन्द्रियोंके कार्य सिद्ध हैं। इनलिये वे प्राकृत हस्तपद आदि इन्द्रियोंसे रहित हैं, परन्तु अप्राकृत इन्द्रियाँवाले हैं—यही मिद्धान्त स्थिर होता है। इसका कारण यह है कि यदि ज्ञानीजन परब्रह्मका दर्शन करते हैं (जैसाकि पहले अङ्गिरा ऋषिने कहा है) तब, उनको अहश्य कैसे कहा जा सकता है? निराकार वस्तुका दर्शन कैसे संभव हो सकता है? उन पुरुषोत्तम भगवान्से जगत् किस प्रकार उत्पन्न होता है—इसके सम्बन्धमें बतलाते हैं—परब्रह्म परमेश्वर ही इस जड़-चेतनात्मक सम्पूर्ण जगत्के निमित्त और उपादान कारण हैं। इस बातको समझानेके लिये तीन हप्तान्त दिये गये हैं। पहले जिस प्रकार मकड़ी अपने पेटसे तन्तुओंको बाहर निकालकर जाल कैताती है और उसे फिर निकल जाती है, उसी प्रकार परम ब्रह्म परमेश्वर अपने अन्दर सूक्ष्मरूपसे लीन हुए जड़-चेतनात्मक जगत्को मृष्टिके प्रारम्भमें प्रकाश करते हैं और प्रलय के समयमें पुनः उसे अपने अन्दर समेट लेते हैं। दूसरा उदाहरण—जिस प्रकार अन्नके पौधे, लूण और लताएँ आदि पृथ्वी पर उगती हैं, किर उनके बीज पृथ्वी पर पढ़ते हैं और मिट्टीमें प्रवेशकर जाते हैं और पुनः वे बीज-समूह समयानुसार उनके जन्मके हेतु होते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मसे जीव-गण अपने-अपने कर्मके अनुसार भिज-भिज योनियोंमें जन्मते हैं। अतः उनमें किसी प्रकारकी विषमता और निर्दयताका दोष नहीं है। तीसरा उदाहरण—जिस प्रकार मनुष्यादिके जीवित शरीरसे केश, रोपै और और नस अपने आप उत्पन्न होते हैं और बढ़ते रहते हैं—उसके लिये उसको कोई कार्य नहीं करना पड़ता है, उसी प्रकार परमब्रह्म परमेश्वरसे यह जगत् स्वभावसे ही समय पर उत्पन्न होता है, विस्तृत होता

है और पुनः उनमें ही लय हो जाता है, इसके लिये परमेश्वरको कोइ प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। जब जगतकी रचनाका समय उपस्थित होता है, उस समय परमेश्वरमें स्थृतिके निमीणका संकल्प उठता है। परमेश्वरके इस संकल्पको 'तप' कहते हैं। उस तपके प्रभावसे ही समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति और बृद्धि करनेवाला आनन्दउत्पन्न होता है। किंतु अन्नसे क्रांति: प्राण, मन, पौच्छ महाभूत, समस्त प्राणी, और उनके वासस्थान, उनके भिन्न-भिन्न कर्म और कर्मानुसार सुख-दुःखादि भोगसमूह—इस प्रकार यह सम्पूर्ण जगत प्रकाशित होता है।

वे परब्रह्म परमेश्वर सबको विशेषरूपसे जानते हैं। उनका एकमात्र स्वाभाविक ज्ञान ही 'तप' है। उन्हें साधारण मनुष्योंकी भाँति कठोर तप नहीं करना पड़ता। इसीलिये उनके संकल्पको ही 'तप' कहा गया है। उनके संकल्परूप 'तप' द्वारा स्वतः सिद्ध इस जगतकी उत्पत्ति होती है।

उपरोक्त सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ और सर्वकारण-कारण परमेश्वरको जान लेनेपर यह सब कुछ जानना हो जाता है।

अब परा और अपरा—दो प्रकारकी विद्याओंमेंसे अपरा विद्याका स्वरूप बतलाते हैं—यज्ञादि नामा प्रकारके कर्मोंका साधनके रूपमें साधारणतः ऋक्, साम और यजुः—इन तीन वेदोंमें विस्तारके साथ चर्णन किया गया है। इसलिये वेदोंको 'त्रयी' कहा गया है। सांसारिक उत्तिकी कामना रखने वाले व्यक्तियोंको वेदी विद्योंको भलीभाँति जानकर नियमपूर्वक कर्मका साधन करना चहिए। आत्मस्य और प्रमादमें या भोगनेमें पशुओं की भाँति जीवन विता देना मनुष्य जीवनका कर्त्तव्य नहीं है।

वेदोंमें कहे गये दूसरे-दूसरे कर्मोंको अपेक्षा अग्निहोत्र अपेक्ष-कर्म है। अधिकारी मनुष्यको प्रतिदिन अग्निहोत्र करना चाहिए। जब देवताओंको हविष्य पहुँचानेवाली अग्नि अग्निहोत्रकी

वेदीमें भलीभाँति प्रज्ञवित हो जाय, उसमेंसे लपटें निरुलने लगें, उस समय आज्यभागके स्थानको छोड़ कर मध्यमें आहुतियाँ ढालनी चाहिए। (यजुर्वेदके अनुसार प्रजापतिके लिये मौत भावसे एक आहुति और इन्द्रके लिये 'आधार' नामक दो आहुति प्रदान करनेके पश्चात् अग्नि और सोमदेवताके लिये दी जानेवाली आहुतिका नाम आज्यभाग है। ये दोनों आहुतियाँ उत्तर पूर्वार्द्ध और दक्षिण पूर्वार्द्धमें ढालने की विधि है।) अर्थात् मध्यभागमें प्रचुर आहुति देनेके पश्चात् अग्निको अच्छी तरह प्रज्ञवित करके होम करना चाहिए। आगके शान्त होने अथवा बुक जाने पर उसमें आहुति नहीं ढालनी चाहिए।

नित्य अग्निहोत्र करनेवाला मनुष्य यदि दर्श (प्रत्येक अमस्याको की जानेवाली इष्टि) और पौर्ण-मास यज्ञ (प्रत्येक पूर्णिमाको की जानेवाली इष्टि) नहीं करता या चातुर्मास्य यज्ञ नहीं करता एवं शरद तथा वसंत ऋतुओंमेंकी जानेवाली आप्रह्यायण यज्ञ नहीं करता, यदि यज्ञशालामें आये हुए अतिथियोंका विधिपूर्वक सत्कार नहीं किया जाता या वह नित्य अग्निहोत्रमें ठीक समय पर और शास्त्रविधिके अनुसार हवन नहीं करता, वलिवैश्वदेव-कर्म नहीं करता, तो वह सातों लोकोंमें प्राप्त होनेवाले भोगोंसे बंचित रह जाता है।

अग्नि अच्छी तरह प्रज्ञवित होने पर उससे सात शिखाएँ (लपटें) प्रकाशित होती हैं। उन सात शिखाओंके नाम हैं—काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूमवर्णी, स्फूलिङ्गिनी और विश्वरुचि। ये सप्तशिखाएँ अग्निकी सप्तजिह्वाके नामसे प्रसिद्ध हैं। जो साधक सातजिह्वावाली अग्निमें समयानुसार विधिपूर्वक आहुतियाँ प्रदान करता है, मरणकालमें ये आहुतियाँ सूर्यकी किरणोंकारूप धारणकर उस इन्द्रलोकमें पहुँचा देती हैं। अर्थात् यह अग्निहोत्र स्वर्ग-सुख प्राप्तिका अमोघ साधन है। वे आहुतियाँ उस साधकसे कहती हैं—आओ, आओ, यह तुम्हारे शुभ कर्मोंका फल भोगनेका स्थान स्वर्ग

लोक है। इन प्रकार मधुर बाणी बारघार कहती हुई आदरपूर्वक उसे सूर्यकी किरणोंके मार्गसे स्वर्ग लोकमें पहुँचा देती हैं।

अब उपर्युक्त लौकिक और स्वर्गीय भोगोंकी तुच्छता दिखलाकर उनके प्रति साधकोंका वैराग्य उत्पन्न करनेके लिये कहते हैं— ये यज्ञसमूह अट्टारह प्रकारके हैं। ये अट्टारहों यज्ञ उन दूटी हुई नौकाओं के समान हैं, जो सागरको पार करानेमें सर्वथा असमर्थ हैं। इनके द्वारा भवसागरसे पार होना तो दूर रहे, इस लोकके वर्तमान दुःखरूप छोटी सी नदीसे पार होकर स्वर्ग तक पहुँचनेमें ही किन्तु-भिन्न हो जाती है। जो मूर्ख साधक इस रहस्यको न जान कर इन सकाम कर्मोंको ही परम श्रेय समझता है, वह पुनः-पुनः जन्मता और मरता रहता है अर्थात् आवागमनके चक्करमें पड़ा रहता है। जिस प्रकार एक अन्धे मनुष्यको मार्ग दिखलानेवाला भी अन्धा ही मिल जाता है; तब वह अपने अभीष्ट स्थान पर नहीं पहुँच पाता; बीच ही में ठोकरे खाता है, कॉटे-कंकड़ोंसे विघ्कर या गहरे गहरे आदिमें गिर कर अथवा चट्टान दीवाल और पशु आदिसे टकराकर नाना प्रकारका दुःख भोगता है, उसी प्रकार अपरा विद्याका आश्रय करनेवाला वह मूर्ख भी पशु पक्षी, कीट, पतङ्ग आदि नाना प्रकारकी दुःखपूर्ण योनियोंमें प्रवेशकर अनन्त जन्मों तक अनन्त यन्त्र-गुणोंका भोग करता है। अतएव मनुष्य जीवनका अमूल्य समय वृथा ही नष्ट हो जाता है। वारस्वार दुःख पाने पर भी उसको ज्ञान नहीं होता। क्योंकि वह लौकिक और पारलौकिक भोगोंको प्राप्त करनेमें, साधनरूप सकाम कर्मोंके अनुष्टानोंमें तत्पर रहनेमें ही अपने जीवनको सफल समझता है। वह उन भोगों में इतना आसक्त रहता है कि उसको सांसारिक उज्ज्ञति के सिवा कल्याणकी ओर दृष्टि करनेका समय ही नहीं मिलता है। इसलिये उसे इस बातका पता ही नहीं रहता कि परमात्माको जानकर परमानन्दके समुद्र में निमग्न हुआ जा सकता है। श्रीमद्भागवतमें ऐसे ज्ञोगोंको 'गृहन्त्र' की संज्ञा दी गयी है—

मतिन् कृष्णे परतः स्वतोवा
मिथोऽभिष्येत् गृहन्त्रतानाम् ।
कदान्तमोभिविश्वातो तमित्रं
पुनः पुनश्चर्वित चर्वणानाम् ॥
(श्रीमद्भा० ७.५१३०)

अर्थात् प्रह्लादजीने कहा—‘जो गृहन्त्र मनुष्य (गृहमें आसक्त व्यक्ति) असंयत इन्द्रियों द्वारा धोर अन्धकार नरकमें प्रवेश करते हैं और तैमारके चबाए हुए सुख-दुखोंको बार-बार चबाते हैं अर्थात् भोगे हुए विषयोंका फिर-फिर भोगनेके लिये संसार में जन्मते-मरते रहते हैं, उनकी बुद्धि अपने-आप चेष्टा करनेसे या किसीके सिव्यानेसे अथवा अपने ही जैसे लोगोंके संगसे—किसी प्रकार भी भगवान् श्रीकृष्णमें नहीं लगती।

न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुः
दुराशाया ये वहिर्वर्थमाविनः ।
अन्धा यथा स्वैरुपनीयमाता—
स्तेऽपोशतन्त्यामुरुदाम्नि बद्धाः ।
(श्रीमद्भा० ७.६१३१)

अर्थात् जिनका चिन्ता सर्वदा विषय-भोगोंमें ही आसक्त रहता है और जिनने वहिर्विषयोंमें आसक्त कामी पुरुषोंको अपना गुरु बनाया है, वे लोग परम-पुरुषार्थीकी अभिलाषा रखनेवाले पुरुषोंकी एकमात्र गति भगवान् श्रीविष्णुकी महिमा नहीं जानते। अतएव जिस प्रकार एक अन्धा दूसरे अन्धे द्वारा मार्ग प्रदर्शित होनेपर यथार्थ मार्गसे भटक कर गङ्गादेमें गिर जाता है, उसी प्रकार वे मनुष्य भी कर्मकारण-मक वेद वाणीरूप लम्बी रससीकी संहिता-ब्राह्मण-रूप महासूत्रोंमें सकाम कर्मोंके द्वारा चैव जाते हैं।

भोगोंमें अतिशय आशक्त जीव इष्ट और पूर्तको अर्थात् वेद और स्मृति आदि शास्त्रोंमें सांसारिक सुखोंकी प्राप्तिके जितने भी साधन बताये गये हैं, उन्हींको सर्वश्रेष्ठ कल्याणप्रद साधन मानते हैं। यज्ञ-को 'इष्ट' और कुँवा खुदवाना, जलाशय निर्माण करना, धर्मशाला बनवाना आदिको 'पूर्त' कहते हैं

सांसारी भोगोंमें आसक्त जीव सर्वदा इसी प्रयत्न में लगे रहते हैं कि दूसरे संसारी जीव भी किस प्रकार से सांसारिक भोगोंमें प्राप्त कर सकें। ऐसे व्यक्ति भोगको प्राप्त करनेके लिये उपदेश करनेवाले तथा भोगोंकी प्राप्तिमें सहायता करनेवाले व्यक्तियोंको ही सच्चा संत मानते हैं। परन्तु उन्हें पता नहीं कि इष्ट और पूर्तीको सुखका साधन माननेवाले व्यक्ति अपने पुण्य कर्मोंके फल रूप स्वर्गलैपुक तकके सुखोंको भोग-कर पुण्यक्षय होने पर पुनः मनुष्य लोकमें अवता इससे भी नीची शूकर-कूकर, कीट-पतंग आदि योनियोंमें या रीरव आदि नरकोंमें चले जानेको बाध्य होते हैं।

उपरोक्त भोगोंसे सर्वथा भिन्न और भी दूसरे साधन हैं जिसे मनुष्य शरीरका महत्व अनुभव करने वाले 'महात्मा' पुरुष ही जानते हैं। वे महात्मागण परमार्थ तत्त्वको जाननेके लिये वानप्रस्थधर्मका अवलम्बन कर बनमें गमन करते हैं, या उत्तम स्वभाव-युक्त गृहस्थधर्मका पालन करते हैं अथवा भिन्ना द्वारा जीवनका निर्वाह करते हुए ब्रह्मचारी या यतिधर्ममें

स्थित होकर निरन्तर जप और अद्वापूर्वक सेवा करते हैं अर्थात् शास्त्रविधिके अनुसार शम-दम आदि साधनोंको करते हुए अद्वापूर्वक परमेश्वरकी प्राप्तिके लिये तप अर्थात् कठोर साधनोंमें लगे रहते हैं। अन्तमें वे रज-तमोगुणोंसे रहित होकर सूर्यकी किरणों द्वारा—अचिरादि मार्गोंसे ब्रह्मलोकमें चले जाते हैं।

अपने कल्याणकी कामना करनेवाले व्यक्तिको लौकिक और पारलौकिक सुखोंको निनान्त तुच्छ समझ कर धैराय्य अवलम्बन करना चाहिए। उन्हें यह जान लेना चाहिए कि इस लोक और स्वर्ग आदि तकके सारे सुख अनित्य और दुःखपर्ण हैं। ऐसा जान कर उन्हें श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके समौप जाकर उनसे ब्रह्मनन्त्वके सम्बन्धमें उपदेश प्राप्त करना चाहिए। ब्रह्मनिष्ठ महात्मागण उनको शरणागत और सच्चा ब्रह्मजिज्ञासु जानकर उपदेश करेंगे। उनसे अविनाशी परब्रह्मका ज्ञान प्राप्तकर जीव चरम कल्याणको प्राप्त हो जाता है।

—त्रिदिविह-स्वामी श्रीमद्भक्तिनूदेव श्रौती महाराज

—~~—~~—

आत्माका जड़से गठ-बन्धन

प्रश्न—श्रीभागवत पत्रिका पंचम वर्ष, संख्या ६-७, पृष्ठ १२८ में 'मम्बन्ध-विचार' नामक लेखमें श्रील ठाकुर भक्ति विनोदजीने लिखा है—'आत्मा शुद्ध चैतन्य सत्ता है। आत्मा सहज ही जड़के वशीभूत नहीं होती; वलिक किसी विशेष कारणवश परमेश्वर की इच्छासे ही शुद्ध आत्माका जड़से गठ बन्धन हो गया है।' कृपया यह बतलाइये कि वह विशेष कारण कौन सा है जिससे शुद्ध आत्माका जड़से गठ-बन्धन हुआ है?

उत्तर—उपर्युक्त प्रश्नका उत्तर वह ही सूक्ष्म और संक्षेपमें उपर्युक्त पंक्तियोंमें ही लेखकने स्वयं

दे दिया है। उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि उस विशेष कारणका अनुसंधान करना हमारे लिये बहुत ही कठिन है। परतत्त्वको यथार्थ रूपमें अनुभव कर लेनेवाला व्यक्ति ही इन विषयोंकी वास्तविकता समझने में समर्थ हो सकता है। परन्तु मुश्किल तो यह है कि इन जड़तीत विषयोंके अनुभव-सिद्ध ज्ञान को हस्त जगतकी भाषामें ठीक ठीक व्यक्त नहीं किया जा सकता है; क्योंकि इस जगतकी भाषामें मायाजन्य ऐसे दोष हैं, जो जड़तीत भाषोंको व्यक्त होते ही दूषित कर देते हैं। इसे यों भी कहा जा सकता है कि हमारी भाषाके ऊपर या हमारे वाक्योंके ऊपर जड़ीय

कालका प्रभाव हुआ करता है, जहांतीत तत्त्वोंका भाषामें वर्णन किये जाने पर वह तत्त्व ठीक ठीक रूपमें न तो व्यक्त ही हो पाता है, और न बद्धजीव उसे यथार्थ रूपमें अनुभव ही कर पाता है। धीर व्यक्ति चित्-समाधि द्वारा अप्राकृत सत्यका अनुभव करते हैं। इस विषयमें एक और कठिनाई यह है कि यहाँ तक तनिक सहायता नहीं करता। अचिन्त्य भावोंके सम्बन्धमें तर्क को नियुक्त करना व्यर्थ है।

अस्तु, इस विषयको न तो यथार्थरूपमें बतलाया ही जा सकता है और न बतलाये जाने पर कोई बद्धजीव ठीक ठीक समझ ही सकता है। तब क्या चुपचाप हाथ पर हाथ रख कर थैठ रहनेसे उसका अनुभव किया जा सकता है? नहीं, इस अपने हृदय में ज्यो-ज्यो चित्-तत्त्वका अनुशीलन बढ़ाते जायेंगे, त्यो-त्यो अधिक रूपमें उन चिन्मय भावोंकी उपलब्धि होती जायगी अर्थात् चिन्मय भाव-समूह इमारे पवित्र अन्तःकरणमें अपने-आप प्रकाश पायेंगे।

अब प्रश्न यह होता है कि तब शास्त्र और गुरु की आवश्यकता क्या है, यदि वे तत्त्व बतलाने पर भी नहीं समझे जायेंगे? इसका उत्तर यह है कि जड़-जगत् चित्-जगत्की छाया है; इसलिये दोनों में कुछ हद तक समानता है; यही कारण है कि इस जगतके उदाहरणोंसे परमात्मिक तत्त्वोंको दूरसे समझाने की चेष्टा की गयी है या चेष्टा की जाती है। जिस प्रकार एक छोटा बच्चा माँसे पूछता है—‘माँ, चाँद कहाँ है? माँ बतलाती है—देखो, सामने उस पेड़की ढाल पर चाँद खेल रहा है। बच्चा उस पेड़की ढालकी ओर देखने लगता है और आसानीसे चाँदको देख लेता है। परन्तु वास्तवमें चाँद उस पेड़ से लाखों मील दूर है। किन्तु किर भी चाँदको देखने में पेड़की ढालकी सहायता ली गयी है। इस युक्ति को शास्त्रमें ‘शास्त्राचन्द्र-न्याय’ कहा गया है। दूसरा उदाहरण लीजिये। जैसे, जीव-तत्त्व समझानेके लिये शास्त्रोंमें भगवानकी तुलना जाती हुई आगसे दी गयी है और जीवोंकी तुलना उस आगसे निकलती

हुई चिनगारियोंसे दी गयी है। यहाँ पर यह समझाने की चेष्टा की गयी है कि जिस प्रकार हर एक चिनगारी अनिका अंश है, परन्तु जो चिनगारी उस बृहस् उवलंत अग्निसे निकल कर बाहर चली जाती है, तब कुछ ही देरमें वह अग्नि नहीं रह जाती, भस्मका कण मात्र बच रहता है; उसी प्रकार जीव भी भगवानका विभिन्नांश है, परन्तु व्योंही वह भगवान से विमुख हो जाता है, द्वंभी उसका स्वरूप और धर्म मायाद्वारा आच्छादित होकर विकृतरूपमें प्रकाशित होता है। उदाहरण तो दिया गया, परन्तु यह उदाहरण सम्पूर्ण रूपमें ठीक नहीं बैठता; आंशिक रूपमें उस तत्त्वका एक आभास मात्र देता है। आग और आगकी चिनगारी जड़ है, परन्तु भगवान और जीव-चिन्मय हैं। आगसे निकली हुई चिनगारी बाहर जाते ही अपना धर्म-दाह करना छोड़ देती है, परन्तु भगवान से विमुख होने पर भी जीवका धर्म लुप्त नहीं हो जाता अथवा विकृत भी नहीं होता; केवल मायाद्वारा आच्छादित मात्र होता है, समय आगे पर जड़ आच्छादन दूर होने पर पुनः उसका धर्म शुद्ध रूपमें प्रकाशित हो पड़ता है। इस प्रकार जड़ उदाहरणोंमें अथवा जड़ीय भाषामें दोष तो है ही, परन्तु बद्धजीवको परतत्त्व समझानेके लिये इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ उपाय भी तो नहीं है। इसलिये भगवान दोषोंको दूर रख कर उसके विषयमें अवगत कर चित्-समाधि—चित्-अनुशीलन द्वारा उसे शुद्ध अन्तःकरणमें अनुभव करने की चेष्टा करनी चाहिए। ऐसा नहीं करनेसे आगे नहीं बढ़ा जा सकता है। यही कारण है कि शुद्ध आत्माका जड़से गठ बन्धन कैसे हो गया—इस विषयमें परतत्त्वका अनुभव करने वाले शास्त्रकारोंने अधिक नहीं बतलाया है अथवा उनके द्वारा बतलाये जाने पर भी इस बद्धजीव समझ नहीं जाते हैं। परन्तु शास्त्रकारोंने जो कुछ बतलाया है, उसे चिदनुशीलन करनेवाले चित्-समाधिके द्वारा जान लेते हैं।

अब मूल प्रश्न पर विचार किया जा रहा है। पदार्थ दो प्रकारके हैं—चेतन और जड़। पुनः चेतन

भी दो प्रकार के हैं—वृहद् चेतन और अगुचेतन। वृहद् चेतनको परब्रह्म या भगवान कहते हैं और अगुचेतनका जीव या आत्मा अथवा कभी कभी जीवात्मा भी कहते हैं। अगुचेतन्य आत्माओंकी संख्या अनन्त है; परन्तु इन आत्माओंके संचालक परमात्मा या भगवान एक है। वह परमात्मा के बल जीवोंका ही संचालक नहीं, वरन् जड़का भी नियामक है। चेतन सर्वदा जड़के विपरीत होता है, अतएव आत्मा एक ऐसा तत्त्व है, जो जड़के अधीन नहीं हो सकता। परन्तु भगवानकी अवधिनश्टन पटीयसी तटस्था शक्ति ने जिसे अगुचित् शक्ति या जीव शक्ति भी कहते हैं, परमेश्वरकी इच्छासे जीवोंके स्वरूपका निर्माण ही इस प्रकार किया है कि जीव चिन्मय तत्त्व होते हुए भी सर्वदा मायके अधीन होने योग्य होते हैं। यहाँ तक कि मुक्त होने पर भी उनका वह स्वभाव उसमें नित्य अगुभ्युत रहता है। जीवके इस भावका नाम तटस्थ स्वभाव भी कहा जा सकता है।

उपरोक्त तटस्थ स्वभावको समझनेके पहले यह जान लेना आवश्यक है कि भगवानकी पराशक्ति के तीन रूप हैं—चित् शक्ति, जीव शक्ति और मायाशक्ति। चित्तशक्ति वैकुण्ठजगतरूप चित् जगतका प्रकाश करती है; मायाशक्ति जड़ जगतका प्रकाश करती है, तथा जीव-शक्ति चित् जगत् और जड़ जगतके ठीक बीचमें तट रेखाके ऊपर तटस्थ स्वभाव बाले असंख्य अगुचित् जीवोंको प्रकाशित करती है, जो उस रेखा पर प्रकाशित होते ही चित् जगत् या जड़ जगतमें से किसी एक जगतमें और चले जाते हैं। जो जीव चित् जगतमें चले गये, वे नित्यमुक्त जीव कहलाये और जो जीव भगवत् विमुख होकर जड़ जगतमें चले आये, वे बद्धजीव कहलाये।

प्रश्न—तट रेखासे कुछ जीव चित् जगतमें और कुछ जीव जड़ जगतमें क्यों चले गये?

उत्तर—जीव भगवानका अगु अंश (विभिन्नांश) है। इसलिये भगवत्-स्वरूपके लक्षणसमूह अगुचित् जीवमें अगुमात्रामें नित्यसिद्ध हैं। भगवान्

पूर्ण स्वेच्छामय हैं; जीव अगुरूपमें स्वेच्छामय हैं। जीवसे स्वतन्त्र-इच्छा शक्तिको निकाल लेने पर वह एक जड़ बस्तु हो पड़ता है। इस स्वतन्त्रताके कारण ही वह अपनी इच्छानुसार चिद् जगतमें नित्य मुक्त जीवके रूपमें नित्य सुख भोगता है अथवा माया जगतमें फँस कर अपनेको जड़ विषयोंका भौतिक अभिमान कर दुःख भोगता है। जीवकी स्वतन्त्रताका सदृश्यवहार या अपश्यवहार ही उसके चित् जगतमें जाने या जड़से गठबन्धनका कारण है।

प्रश्न—भगवानने जीवोंको स्वाधीनता दी है, यह तो ठीक है परन्तु उन्होंने जीवोंको इतना दुर्बल क्यों बनाया कि वह मायामें फँस गया?

उत्तर—भगवान लीलामय हैं। उन्होंने भिन्न-भिन्न प्रकारकी आवस्थाओंमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी लीलाओंके लिये जीवोंको ऐसा बनाया है, जिससे वे सब प्रकारकी लीलाओंके लिये उपयोगी हो सकें।

प्रश्न—भगवानकी लीलाके लिये दूसरे-दूसरे जीव क्यों कष्ट पाते हैं?

उत्तर—सुख और दुःख तो मनकी गति है। हम जिसे दुःख समझते हैं, दूसरे उसीको सुख मानते हैं। कोई मादक-द्रव्योंके सेवनमें सुख मानता है, दूसरे उससे धृणा करते हैं। परिस्थितियोंसे भी सुखमें दुःख और दुःखमें सुखका भान होता है। जैसे—दशभक्त सूजीको फूलकी सेज मान कर हँसते-हँसते उसका आलिंगन कर लेते हैं, जेलोंको स्वर्ग मानते हैं। दूसरे मृत्यु और जेलको दुःख समझते हैं। दूसरी बात यह है कि स्वाधीनताका अपश्यवहार कर जो जीव मायामें फँस जाते हैं, उन्हें मायिक बलेश-रूप अग्निसे तपा कर भगवान् (माया शक्ति द्वारा) शुद्ध कर लेते हैं तथा नित्य परमानन्द सुख प्रदान करते हैं। विमुख जीवके दुख भी अन्तमें सुखदायी होते हैं। इसीलिये भगवानकी लीलामें वहिर्दृष्टिसे जो बलेश दिखतायी पड़ता है, वह दूरदर्शी व्यक्तियोंकी हृषिमें कल्पाणप्रद प्रतीत होता है।

उपरोक्तमें हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि

आत्मा शुद्ध वैतन्य सत्ता होने पर भी किसी विशेष कारणणश परमेश्वरकी इच्छासे ही उसका जड़से गठ-बन्धन हो गया है। वह चिशेष कारण है— भगवान् द्वारा दी गयी जीवकी स्वाधीनता—स्वतन्त्र इच्छाका अपब्रयवहार। यही जीवका मायाके साथ गठ-बन्धन करा देता है।

यहाँ एक बात और भी ध्यान देनेकी यह है कि भगवान् समस्त कारणोंके भी मूल कारण हैं—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दः विग्रहः ।

अनादिरादिगोविन्दः सर्वकारणकारणम् ॥

(ब्रह्मसंहिता)

परन्तु वैसा होने पर भी वे स्वयं जीवोंके मायामें

फेरने आथवा उनके चित् जगत्में चले जानेका हेतु नहीं बनते। भगवान् जीवोंको स्वतन्त्र इच्छा तो देते हैं, परन्तु वसे पाकर जीव स्वेच्छापूर्वक जो जड़से गठ-बन्धन कर लेता है वा चित् जगत्में निय सुख प्राप्त करता है, उसका वायित्व जीव पर ही होता है, भगवान् उससे सर्वथा निर्लेप रहते हैं। उसी प्रकार जीव जो संसारमें सुख वा दुःख भोग करता है, उसका कारण भगवान् नहीं है, बल्कि स्वयं जीव है। भगवान् किसीको सुख वा दुख नहीं देते। जीव स्वयं अपने सुख-दुखोंके लिये उत्तरदायी है।

'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सुवित्रभः' ।

(गीता ४।१४)

जैव-धर्म

एकतीसवां अध्याय

मधुर रसविचार

शरत्कालका बड़ा ही सुहावना समय है। रात के दस बजे हैं। शीतल और स्तिंघ ज्योत्स्नाकी साड़ी पहन कर पृथ्वीका रूप बड़ा ही आकर्षक हो रहा है। विजयकुमार 'उड्बलनीलमणि' पढ़ रहे हैं और बीच-बीचमें गम्भीर चिंतन करते जाते हैं। सहसा उनकी हृषि शुभ्र-ज्योत्स्ना पर पड़ी। उनका हृदय एक अनिर्वचनीय आनन्दसे भर गया। उन्होंने सोचा—बड़ा ही सुन्दर समय है, क्यों न इसी समय चल कर सुन्दराचलका दर्शन करूँ। सुना है श्रीचैतन्य महाप्रभुजी जब-जब सुन्दराचलका दर्शन करते थे, तब-तब उन्हें ब्रजधामकी स्फूर्ति होती थी।' ऐसा सोचकर वे अकेले सुन्दराचल की ओर चल पड़े। विजयकुमार शुद्ध मधुर रससे भजन करनेकी शिक्षा ले रहे हैं। उनको कृष्णकी ब्रजलीलाको छोड़ कर दूसरा कुछ भी अच्छा नहीं

लगता है। उसमें भी ब्रजलीलाके अन्तर्गत गोपियों के साथ श्रीकृष्णकी लीलाओंके चिन्तनमें ही वे सदा मन रहते हैं। वे बलगरडीको पार कर अद्वावालि की ओर बढ़ने लगे। दोनों ओरके उपवनोंको देख कर उनको वृन्दावनकी स्फूर्ति होने लगी। वे प्रेम में विभोर होकर कहने लगे—अहा ! मेरा कितना सौभाग्य है। मैं ब्रह्मा आदि देवताओंके लिये भी परम दुर्लभ ब्रजभूमिका दर्शन कर रहा हूँ। कितने सुन्दर हैं—ये कुंज-समूह ! यह देखो कुंजवन ! अरे ! यह क्या देख रहा हूँ ! मालती लतासे निर्मित इस माघबी मण्डपमें हमारे प्राणेश्वर श्रीकृष्ण गोपियोंके साथ बैठकर परिदास कर रहे हैं ! भय और संभ्रम छोड़ कर विजयकुमार व्याकुल होकर तेजीसे उसी ओर दौड़ पड़े। उनको अपने तन-मन की सुधि भी न रही। वे कुछ ही दूर जाकर

मूच्छित होकर गिर पड़े। मन्द-मन्द समीर उनकी सेवा करने लगा। थोड़ी देरके बाद उनको चेतनता हुई और तब वे इधर-उधर चारों तरफ देखने लगे। परन्तु अब वह पूर्व दृश्य दिखलाई नहीं पड़ा। वे बड़े दुःखी हुए। कुछ देरके पश्चात् वे घर लौट आये और किसीसे बुझ न वह कर चुपचाप विस्तरे पर लेट गये।

ब्रजलीला की स्फुर्ति होनेसे विजय बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने मन-ही-मन सोचा कि आज रातको मैंने जिस रहस्यको देखा है, उसे कल श्रीगुरुदेवके चरणोंमें निवेदन करूँगा। परन्तु बुद्ध देर बाद ही उनको यह बात स्मरण हो आयी कि सौभाग्यसे अप्राकृत लीलाका रहस्य दिखलायी पड़ने पर उसे दूसरोंसे कहना नहीं चाहिए। इस प्रकार सोचते-सोचते उन्हें नीद आ गयी।

दूसरे दिन प्रसाद पाकर काशीमिश्रके घर पर पहुँचे और श्रीश्रीगुरुदेवको साष्ट्राङ्ग प्रणाम कर उनके समीप बैठे। श्रीगुरुदेवने उनको स्नेहपूर्वक आलिंगन किया और कुशल पूछी। विजयकुमार श्रीगुरुदेव का दर्शन कर बड़े प्रसन्न हुए और कुछ स्थिर होने पर बोले—‘प्रभो ! आपकी आसीम अनुकूल्यासे मेरा मनुष्य जीवन सार्थक हो गया। इस समय मैं श्रीउद्गवल रसके सम्बन्धमें कुछ निगड़ तर्दोंको जानना चाहता हूँ। मैं श्रीउद्गवलनीलमणिका पाठ करता हूँ। पाठ करते-करते कुछ ऐसे स्थल मिले हैं जिनका तात्पर्य समझ नहीं सका हूँ। यदि आज्ञा हो तो जिज्ञासा करूँ ।’

गोस्वामी—‘विजय ! तुम मेरे प्रिय शिष्य हो। तुम जो कुछ जिज्ञासा करना चाहते हो, वहे आनन्द करो, मैं जहाँ तक हो सकेगा, उत्तर देनेका प्रयत्न करूँगा।’

विजयकुमार बोले—‘प्रभो ! मुख्य रसोंमें मधुर रसको अतिशय रहस्योत्पादक रस बतलाया गया है। ऐसा कहा भी क्यों न जाय ? जब शान्त, दास्य, सह्य और वात्सल्य इन चारों रसोंके गुण मधुर रस में नित्य विद्यमान हैं एवं उन रसोंमें जो कुछ

चमत्कारिताका अभाव है, वह भी मधुर रसमें सुधर रूपसे पूर्णरूपसे प्रतिष्ठित है, तब मधुर रस ही सर्वश्रेष्ठ है इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। निवृत्तिपथावलम्बी ध्यक्तियोंका हृदय शुष्क (नीरस) होता है, अतः उनके लिये मधुर रस नितान्त अनुपयोगी होता है। दूसरी तरफ मधुर रस जड़ धर्मसे सर्वथा विलक्षण होनेके कारण जड़ प्रवृत्तिवाले ध्यक्तियोंके लिये दुर्द्द भी होता है। ब्रजका मधुर रस जब जड़ीय शृङ्खाररससे सर्वथा विलक्षण है, तब तो वह सहज ही साध्य नहीं है। इस प्रकार यह आग्राकृत मधुर रस किस प्रकारसे अस्यन्त हैय सांसारिक स्त्री-पुरुषगत जड़ रस जैसा ही दिखलायी पड़ता है ?

गोस्वामी—‘विजय ! तुम यह भलीभाँति जानते हो कि जड़ जगतकी सारी विचित्रताएँ चित्तत्वकी विचित्रताका ही प्रतिफलन है। जड़ जगत् भी चित्त जगत्का प्रतिफलन (छाया) है। इसमें एक गूढ़ रहस्य यह है कि प्रतिफलित प्रतीति स्वभावतः विपरीत धर्मयुक्त होती है। आदर्श (काया) में जो चीज सर्वोत्तम होती है, प्रतिफलनमें वही चीज सर्वाधम होती है। आदर्शमें जो निम्नस्थ दिखाई पड़ता है, वही प्रतिफलनमें उच्चस्थ दिखलायी पड़ता है। दर्पण में कायाका जो प्रतिफलन होता है, उसमें अंग-प्रत्यंग विपरीतरूपमें दिखलायी पड़ते हैं। उसी प्रकार परम वस्तु आपनी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे उसी शक्तिकी छायामें प्रतिफलित होकर जड़ीय सत्ताके रूपमें विस्तृत हुई है। अतएव परम वस्तुके धर्म-समूह जड़ीय सत्तामें विपरीतरूपमें दिख पड़ते हैं। परम वस्तुगत रस भी उसी प्रकार हस जड़ जगत्में जड़ीय हैय रसके रूप में प्रतिफलित हुआ है। जड़ीय रस—चिन्मय रसका विपरीत प्रतिफलन है। परम वस्तुमें जो अपूर्व अद्भुत विचित्रतागत सुख है, वही परम वस्तुका रस है। वही रस जड़में प्रतिफलित होने पर जड़वद्वजीवकी चिन्ता द्वारा एक औषाधिक तत्त्व कल्पित होता है। ऐसी दशामें वह निवृत्त निर्विशेष धर्मको ही परम वस्तु

मानता है और निर्विशेष तत्त्वमें विचित्रताका निषेध रहनेके कारण समस्त प्रकारकी विचित्रताओं को ही जड़धर्म होनेकी कल्पना करता है। इस प्रकार वह निरुपाधिक सत्ता और सत्ताधर्मको जान नहीं पाता। जो लोग युक्तिका सद्वारा लेते हैं, उनकी ऐसी ही गति होती है।

वास्तवमें परम वस्तु रसरूप तत्त्व हैं; अतएव उनमें अद्भुत विचित्रताएँ हैं। जब रसमें भी वे विचित्रताएँ प्रतिफलित रहनेके कारण जड़ रसकी विचित्रताका अवलम्बन करनेसे अतिन्द्रिय रसका अनुभव (अनुमान) होता है। चिह्नस्तुमें जो रस-विचित्रता है, वह इस प्रकार है। चित् जगतमें शान्त धर्मगत शान्त-रस सबसे नीचे स्थित है। उसके ऊपर सख्य रस, सख्यके ऊपर वात्सल्यरस और सबसे ऊपर मधुर रस विराजमान होता है। जड़ जगतमें मधुर रस विषयस्त होकर सबसे नीचे अवस्थित होता है। उसके ऊपर वात्सल्य रस, वात्सल्यके ऊपर सख्य और सबसे ऊपर शान्त रस अवस्थित होता है। जो लोग जड़-धर्मके स्वभावका अवलम्बन कर रसतत्त्वका विचार करते हैं, वे ऐसा ही सिद्धान्त कर मधुर रसको हीन (घृणा योग्य) समझते हैं। मधुर रसकी स्थिति और क्रिया जब जड़ जगतमें प्रतिफलित होती है, तब वह प्रतिफलित स्थिति और क्रिया अतिशय तुच्छ और लज्जास्पद होती है। चित्तजगतमें वे सर्वथा शुद्ध, निर्मल और अद्भुत रूपमें माधुर्यपूर्ण होती हैं। चित्तजगतमें कृष्ण और उनकी नाना प्रकार-की शक्तियोंका पुरुष-प्रकृति रूपमें जो मिलन होता है, वह अत्यन्त पवित्र और तत्त्वमूलक होता है। जड़ जगतमें जो जड़प्रत्ययित व्यवहार है अर्धान् खी-पुरुषका जो जड़ीय व्यवहार है, वही लज्जास्पद है। चित्तजगतमें कृष्ण ही एकमात्र पुरुष हैं और चित्तसत्त्व-समूह इस रसमें प्रकृति हैं, इसलिये कोई धर्म-विरोध नहीं है। जड़में कोई जीव भोग्य और एक दूसरेको भोग करना चाहते हैं, यही व्यापार मूल तत्त्वका विरोधी

होनेके कारण घृणा और लज्जाका विषय हुआ है। तत्त्वतः एक जीव दूसरे जीवका भोक्ता नहीं है। सभी जीव भोग्य हैं और कृष्ण ही एकमात्र भोक्ता है। ऐसी स्थितिमें जीवका भोक्ता बनना निरपेक्षमें विरुद्ध व्यापार है और यह वास्तवमें वही ही लज्जा और घृणाकी बात है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। देखो, आदर्श प्रतिफलनके विचारसे जड़ीय खी-पुरुषका व्यवहार नथ। निर्मल कृष्णलीला—दोनोंमें सीमाट्रश्य अवश्यम्भावी है, तथापि एक अत्यन्त तुच्छ और दूसरा नितान्त उपादेय है।

विजय—‘प्रभो ! इस अपूर्व विचारको सुनकर कृतार्थ हुआ। मेरा संशय दूर हो गया। अब इस मिद्दान्तसे मेरा स्वतःसिद्ध विश्वास दृढ़ हो गया। मैं चित् जगतके मधुर रसकी स्थितिको समझ गया। अहा ! ‘मधुर रस’—यह शब्द जैसा मधुर है, इसका अप्राकृत भाव भी वैसा ही परमानन्दजनक है। ऐसे मधुर रसके रहते हुए जो लोग शान्त रसमें सुख प्राप्त करते हैं, उनके समान दुर्भाग्य और कौन होगा ? प्रभो ! मैं निगद मधुर रसके सम्बन्धमें विभूत विचारोंका अवण करना चाहता हूँ।’

गुरुगोस्वामी—‘बाबा ! सुनो। कृष्ण ही मधुर रसके विषय है और उनकी वल्लभागण (गोपियाँ) इस रसके आश्रय हैं। ये दोनों मिल कर इस रसके आलम्बन हुए हैं।’

विजय—‘मधुर रसके विषय—कृष्णका रूप क्या है ?’

गोस्वामी—‘अहा ! वहा ही मधुर प्रश्न है। नवजलधरवर्ण, सुरस्य, मधुर, सर्वसुलक्षणोंसे युक्त, बलवान्, नौयौवनयुक्त, सुवक्ता, प्रिय भाषी, बुद्धिमान, प्रतिभावान्, धीर, विद्यम, चतुर, सुखी, कृतज्ञ, दक्षिण, प्रेमवश्य, गंभीर, श्रेष्ठ, कौत्तिमान्, रमणीजनमनोहारी, नित्यनवीन, अतुल्यकेलि, सौन्दर्य-शाली, प्रियतम, वंशी वजाने वाले—इन गुणोंसे युक्त पुरुष ही कृष्ण हैं। उनके चरणयुगलका सौन्दर्य निखिल कन्दर्पके गर्वको चूर्ण-विचूर्ण करता है।

उनकी कटाक्षपूर्ण चितवनें सबके चित्तको विमोहित कर डालती हैं। वे लीलाकी निधि-स्वरूप हैं।

विजय—आप्राकृत रूप और गुण सम्बन्धीकृष्ण ही अप्राकृत परम विचित्र मधुररसके एकमात्र नायक हैं। इसे मैंने सम्पूर्ण रूपसे अनुभव कर लिया है। पहले मैं भिन्न-भिन्न शास्त्रोंका अध्ययन कर युक्ति और तर्कके सहारे कृष्ण-हपकी भावना बरने पर भी उसमें मेरा सुदृढ़ विश्वास नहीं जमता था। परन्तु आपकी कृपासे मेरे हृदयमें जबसे रुचिमूला भक्ति उत्पन्न हुई है, तभीसे मैं अपने भक्ति द्वारा पवित्र हुए हृदय में दिनरात निरन्तर कृष्ण स्मृतिका अनुभव कर रहा हूँ। मेरे छोड़ देने पर भी कृष्ण मेरे हृदयको छोड़ते नहीं हैं। अहा ! उनकी कितनी कृपा है। अब मैं भलीभाँति समझ रहा हूँ—

सर्वथैव दुरुहोऽयमभक्तैर्भवद्वसः ।
तत्पादन्तु जन्मवैर्व्यर्भक्तैरेवानुरस्यते ॥
व्यक्तिरयभावनावर्दम्यश्चमकारभारमुः ।
हृदिसर्वोऽज्ञवते ब्राद् स्वदते स रसो मतः ॥

—(भ. र. सि. । दः ६ ल ७८।०६)

जो श्रीकृष्णके श्रीचरणकमलोंको ही अपना सब कुछ समझते हैं, वे शुद्धभक्तजन ही इस रसको अनुभव कर सकते हैं। जिनके हृदयमें भक्तिगंध नहीं है अर्थात् तनिक भी भक्ति नहीं है, जिनका हृदय जड़ोदित भावोंसे परिपूर्ण है तथा स्वभावसे ही अपने मन्त्रकारोंके अनुरूप जो तर्कप्रिय हैं, वे कदापि इस रस का अनुभव नहीं कर सकते हैं। प्रभो ! मैंने यह अनुभव किया है कि जब मनुष्यके भावना-पथकी सीमाको पार कर कोई चमत्कार भाव शुद्ध सत्त्वके द्वारा उज्ज्वल हुए हृदयमें उदित होता है, तब उस परम विशुद्ध और परम चमत्कारपूर्ण भावको रस कहते हैं। रस जड़ जगतमें नहीं है—वह चित्तगत की वस्तु है। वह चिनकण जीवकी सत्ता पर प्रकाशित होता है। भक्ति-समाधिमें यह रस लक्षित होता है। शुद्ध-सत्त्व और मिश्रसत्त्वका भेद जिसके हृदयमें

श्रीगुरुदेवकी कृपासे उदय होता है, उसको किसी प्रकारका संशय नहीं रहता।'

गोस्वामी—'चित्तकुल ठीक कहा। अचली बात है, तुम्हारे अनेकों संशयोंको दूर करनेके लिये एक प्रश्न कर रहा हूँ, तुम उसका उत्तर दो, उस उत्तर से ही एक परम तत्त्वका अनुभव करोगे। बोलो, शुद्धसत्त्व और मिश्रसत्त्वमें क्या अन्तर है ?'

अगु देवके चरणोंमें दण्डवत् प्रणाम कर विजय कुमार नम्रतापूर्वक बोले—'प्रभो ! मैं आपकी कृपा से यथासाध्य बतला रहा हूँ। यदि कोई भूल हो तो कृपा कर संशोधन करेंगे। जिसका अस्तित्व लक्षित है, उसे सत्ता कहते हैं। स्थितिसत्ता, रूपसत्ता, गुण-सत्ता और क्रियासत्ता युक्त बस्तुको सत्त्व कहा जा सकता है। जो सत्त्व—अनादि और अनंत है, नित्यननीन रूपमें वर्तमान है तथा जो भूत-भविष्य हप खण्डवाल द्वारा दुष्प्रिय नहीं होता और सर्वदा चमत्कारितासे पूर्ण रहता है—वही शुद्धसत्त्व कहलाता है। शुद्धचित् शक्तिसे उत्पन्न होने वाली समस्त सत्ताएँ शुद्धसत्त्व हैं। चित् शक्तिकी छाया-रूप मायामें कालका भूत-भविष्यरूप विकार होता है। उस मायामें जो सब सत्त्व दिखलायी पड़ते हैं, उन सबका आदि है; अतएव उनमें मायाका रजःधर्म है। उन सबका अन्त है; अतएव उनमें तमःधर्म भी है। ऐसे आदि और अन्तयुक्त मायिक सत्त्वको मिश्रसत्त्व कहते हैं। शुद्धजीव भी—शुद्धसत्त्व है। उनका रूप, गुण और क्रिया सब कुछ शुद्धसत्त्वमय है। जबसे शुद्धजीव बढ़ हुआ है, तबसे मायाके रजोगुण और तमोगुण ये दोनों उसके सत्त्वमें मिश्रित हो गये हैं। अतएव बद्धजीवको मिश्रसत्त्व कहते हैं।'

गोस्वामी—'बाबा; तुमने बड़ा ही सूक्ष्म सिद्धान्त कहा है। अब यह बतलाओ कि जीवका हृदय शुद्ध-सत्त्वके द्वारा किस प्रकारसे उज्ज्वल होता है ?'

विजय—'जीव जब तक जड़ जगतमें बढ़ रहता है, तब तक उसका शुद्ध सत्त्व साफ़-साफ़ (शुद्ध रूपमें) उदित नहीं होता। जिस परिणाममें जीवका शुद्ध-

सत्त्व उदित होता है, उसी परिणाममें उसका स्वस्यरूप भी उपलब्ध होता है। यह कल किसी भी ज्ञान या कर्म साधना द्वारा नहीं प्राप्त हुआ जा सकता। शरीर में मैल लगने पर उसे दूसरे किसी भी मैलके द्वारा दूर नहीं किया जा सकता है। जह कर्म स्वयं मल है, वह जीवके ऊपर मायाके मैलको किस प्रकार हटा सकता है? ज्ञान अग्निके समान है, वह मैलके साथ-साथ मूल सत्त्वको भी जलाकर खाक कर डालता है। उसके द्वारा मल साफ होनेका सुख कैसे प्राप्त किया जा सकता है? अतएव कृष्ण और वैष्णवों की कृपामूलक भक्तिसे ही शुद्धसत्त्व उदित होता है। भक्ति उदित होने पर शुद्धसत्त्व ही हृदयको उज्ज्वल करता है।'

गोस्वामी—'वाचा, तुम जैसे अधिकारीको उपदेश प्रदान करनेमें सुख होता है। अब तुम और क्या जिज्ञासा करना चाहते हो?'

विजय—'आपने पहले बतलाया है कि नायक चार प्रकारके होते हैं—धीरोदात्त, धीरलित, धीरशान्त और धीरोदृढ़त। कृष्ण इनमेंसे कौनसे नायक हैं?'

गोस्वामी—'कृष्णमें उक्त चारों प्रकारका नायकत्व है। चार प्रकारके नायकोंमें परस्पर जो सब विरुद्धभाव दिखलायी पड़ते हैं, वे सभी कृष्णरूप नायकमें उनकी अचिन्त्यशक्तिमत्ता और निखिल रसोंको एक ही समय धारण करनेकी शक्तिके कारण दर्त्तमान हैं और कृष्णकी इच्छानुसार कार्य करते हैं। इन चार प्रकार के नायकधर्मोंसे युक्त श्रीकृष्णमें और भी एक गृह विचित्रता है। वह विचित्रता केवल आधासारण अधिकारियोंके लिये ही जानने योग्य है।'

विजय—'यदि आपने मुझपर इतनी बड़ी कृपा की है, तब कृपाकर इस तत्त्वको भी बतलाया जाय।' ऐसा कहते-कहते विजयकुमारको उँगले सजल हो आयीं और वे गोस्वामीजीके चरणोंमें गिर पड़े। गोस्वामीजी ने उन्हें उठाकर हृदयसे लगा लिया और स्वयं भी अश्रुपूर्ण नेत्रसे गदगद वाणीमें बोले—'वाचा, वह

रहस्य यह है कि मधुर रसमें कृष्ण पति और उप-पति भेदसे दो प्रकारके नायक होते हैं।'

विजय—'प्रभो! कृष्ण तो हमारे नित्य पति हैं, उनको पति ही कहना चाहिये था, फिर उपर्यात सम्बन्ध क्यों?

गोस्वामी—'बड़ा गृह रहस्य है। एक तो चिद्व्यापार ही एक रहस्यमणि है, फिर परकीय मधुर रस उस मणिमें कौस्तुभ मणिके समान है।'

विजय—'मधुरसाभित भक्तजन कृष्णको पति-भावसे भजन करते हैं; कृष्णको उपपति जाननेका गृह तात्पर्य क्या है?'

गोस्वामी—'परतत्त्वमें निर्विशेष भावका योग वरनेसे कोई रस ही नहीं रहता है तथा 'रसो वै सः' (छा० ना० १३।१) इत्यादि वेद वाक्य व्यर्थ हो पड़ते हैं। उसमें सुखका नितान्त अभाव होनेके कारण निर्विशेष भाव अनुपादेय होता है। दूसरी तरफ सविशेष भाव जितने प्रकारका होता है, उसी मात्रामें रसका विनाश भी माना जायगा। रसको ही मुख्य तत्त्व समझना। निर्विशेष भावसे कुछ मात्रामें ईश्वर-भाव नामक सविशेष भाव श्रेष्ठ है। शान्त रसके ईश्वर भावसे दास्य रसका प्रसुभाव ऊँचा है। सख्य भाव दास्य भावसे उत्तम है। वात्सल्य उससे भी श्रेष्ठ है; और मधुररस सबसे बढ़ कर होता है। जिस प्रकार ये भावसमूह क्रमशः एक से दूसरे श्रेष्ठ हैं; उसी प्रकार स्वकीयकी अपेक्षा परकीय मधुर रस उत्कृष्ट है। आत्म और पर—ये दो तत्त्व हैं। आत्म-निष्ठुर्धर्म—आत्मारामताको कहते हैं। उसमें रसका पृथक् कोई सहाय नहीं होता। श्रीकृष्णका आत्मारामता धर्म नित्य होने पर भी उनमें परारामता धर्म भी उसी प्रकार नित्य है। विरुद्ध धर्मसमूह परमपुरुष कृष्णमें एक ही समय एक ही साथ अवस्थित होते हैं, यह परतत्त्वका स्वाभाविक धर्म है। कृष्णलीलाके एक केन्द्रमें आत्मारामता अवस्थित है और उसके विपरीत केन्द्रमें परारामता अपनी पूर्ण पराकाशामें विराज करती है। परारामताकी यह

पराकाष्ठा ही परकीय भाव है। नायक और नायिका परस्पर 'पर' की होने पर भी जब रागके द्वारा वे मिलित होते हैं, तब जो अद्भुत रस होता है, उसे परकीय रस कहते हैं।

आत्मारामतासे लेकर परकीय मधुर रस तक रसकी विस्तृत सीमा है। रसको अत्मारामताकी ओर खिचनेसे रसकी क्रमशः शुष्कता होती जाती है। परकीयकी दिशामें उसे जितना खींचा जाय वह (रस) उतनी ही प्रकुल्लताको प्राप्त होता है। कृष्ण ही जहाँ नायक हैं, वहाँ परकीयता कदापि धृग्णास्यद नहीं हो सकती है। जहाँ कोई साधारण जीव नायक बनता है, वहाँ धर्म और अधर्मका विचार पैदा होता है; अतएव वहाँ पर परकीय भाव निरान्त हेतु होता है। इसलिये परकीय पुरुष और परोदा स्त्रीके संभोगको कवियोंने बड़ा ही हेतु स्थिर किया है। श्रीरूप गोस्वामीने कहा है कि साधारण अलंकार शास्त्रमें उपपतिमें जो हेतुता स्थिर की गयी है, वह केवल प्राकृत (जड़) नायकके सम्बन्धमें ही कही गयी है। यह बात साक्षात् अप्राकृत अवतारी श्रीकृष्णके सम्बन्धमें नहीं कही जा सकती है।

विजय—'कृपया पति और उपपतिका पृथक्-पृथक् लक्षण बतलाइये।'

गोस्वामी—'जो कन्याका हाथ पकड़ कर विवाह करते हैं, वे पति हैं।'

विजय—'उपपति और परकीयका लक्षण बताइये।'

गोस्वामी—'तदीय प्रेमसर्वस्वस्वरूप परकीय अवलोकन संप्रहकी इच्छासे जो रागमार्ग धर्मका उल्लंघन करते हैं, वे उपपति हैं। जो स्त्री इस लोक और परलोक (स्वर्ग आदि लोक) के धर्मकी उपेक्षा कर विवाह-विधिका उल्लंघन कर पराये पुरुषके निकट आत्म समर्पण करती है—वह परकीय है। कन्या और परोदाके भेदसे परकीया दो प्रकारकी होती हैं।'

विजय—'स्वकीयका लक्षण क्या है?'

गोस्वामी—'पाणि-प्रहण विधि द्वारा विवाहित, पतिके आदेशोंको पालन करनेमें तत्पर पतिव्रता स्त्रीको स्वकीया कहते हैं।

विजय—'श्रीकृष्णके लिये स्वकीया कौन हैं और परकीया कौन हैं?'

गोस्वामी—'द्वारकापुरीकी विवाहित स्त्रियाँ स्वकीया हैं और ब्रजवनितायें अधिकांश ही परकीया हैं।'

विजय—'उन दोनों प्रकारकी स्त्रियोंकी अप्रकट लीलामें क्या स्थिति होती है?'

गोस्वामी—'बड़ी ही गृह बात है। तुम जानते हो कि विभूति चारपादवाली है। उनमें तीन पाद विभूति चिज्जगतमें और एक पाद विभूति जड जगतमें है। एक पाद विभूतिमें चौदह भुवनात्मक सम्पूर्ण मायिक जगत् स्थित है। मायिक जगत् और चिज्जगत के बीचमें विरजा नदी है। विरजाके इस ओर मायिक जगत् और उस पारमें चित् जगत् है। चित् जगत् को चारों ओरसे घेरनेवाली चहारदीवारी ही उपोतिर्मध्य ब्रह्मधाम है। उसे भेदकर आगे बढ़ने पर परब्योम संब्योमरूप वैकुण्ठ दिखलायी पड़ता है। वैकुण्ठमें ऐश्वर्य प्रबल होता है। वहाँ पर नारायण ही राजराजेश्वरके रूपमें अनन्त चिदिभूतियों द्वारा परिसेवित होकर विराजमान रहते हैं। वैकुण्ठमें भगवान् का स्वकीय रस है। वहाँ श्री, भू और नीला शक्तियाँ स्वकीय स्त्रीके रूपमें उनकी सेवा करती हैं। वैकुण्ठके ऊपर गोलोक है। वैकुण्ठमें स्वकीय पुरुकी वनिताएँ यथास्थानमें सेवामें तत्पर रहती हैं। गोलोकमें ब्रजकी वनिताएँ अपने रसमें कृष्णकी सेवा करती हैं।'

विजय—'यदि गोलोक ही कृष्णका सर्वोच्च धारा है, तब ब्रजका इतना अद्भुत माहात्म्य क्यों बतलाया गया है?'

गोस्वामी—'ब्रज, गोकुल और वृन्दवन आदि स्थान श्रीमाथुरमण्डलके भीतर हैं। माधुरमण्डल

और गोलोक अभेद तत्त्व हैं। एक ही चम्तु चित्-जगत् के सर्वोच्च स्थानमें स्थित होने पर गोलोक और प्रपञ्चके भीतर प्रकाशित होने पर माथुरमण्डल-युग-वत् इन दो स्वरूपमें प्रसिद्ध है।

विजय—‘यह कैसे संभव है, यह बात समझमें नहीं आती।’

गोस्वामी—‘कृष्णकी अचिन्त्य शक्तिके द्वारा ऐसा संभव होता है। अचिन्त्य शक्तिके विषय-समूह चिन्ता और युक्तिसे परे हैं। जिसको गोलोक कहा जाता है, वही प्रूकट लीलामें प्रपञ्चके भीतर मथुरा धाम है; अप्रकट लीलामें वही गोलोक है। गोलोक-नित्यजगन्में नित्य प्रकाशित है। कृष्णकी चिन्मयी लीला नित्य है। जिनको शुद्ध चिन्मय वस्तु दर्शन करनेका अधिकार हो गया है, वे गोलोक दर्शन करते हैं, यही नहीं, वे गोकुलमें ही गोलोक का दर्शन करते हैं; परन्तु मायिक बुद्धिवाले जीव गोलोकका दर्शन नहीं कर पाते। गोकुल ही गोलोक है, फिर भी जड़ बुद्धिवाले जीव गोकुलमें प्रापञ्चिक विश्वका दर्शन करते हैं अर्थात् गोकुलको सांसारिक स्थानके रूपमें देखते हैं।

विजय—‘गोलोक दर्शनका अधिकार क्या है?’

गोस्वामी—‘श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा है—

इति संचिन्त्य भगवान् महाकारुणिको विभः।

दर्शयामास स्व लोकं गोपानां तमसः परम् ॥

सत्यं ज्ञानमनन्तं यद्ब्रह्मज्योतिः सनातनम् ।

यदि पश्यन्ति मुनयो गुणापये समाहिताः ॥

(श्रीमद्भा॒१०८८८।१४-१५) (क)

[क] (गोपगण नित्यसिद्ध हैं, परन्तु वे कृष्णलीलाके सहायकरूपमें इस प्रदंष्टमें अवलोक्य होते हैं। उन नित्य सिद्ध गोपोंके अनुगत साधनसिद्ध गोप होते हैं। ये साधन मिहूं गोप ऐसा समझते हैं कि इस लोकमें जीव अज्ञानवश शरीरमें आत्मबुद्धि कर भौतिकी कामना करते हैं और उसकी पूर्तिके लिये नाना प्रकारके कर्म कर ऊँची नीची योनियोंमें भटकते फिरते हैं—इस लोग भी वही करते हैं) —ऐसा सोच कर अचिन्त्यवैभवयुक्त महाकारुणिक भगवान् श्रीकृष्णने उन गोपोंको माया अन्धकारसे अनीत अपना परम धाम—गोलोकका दर्शन कराया। वह धाम नित्य सत्य और सनातन है अपरिच्छिक जड़ सम्बन्ध-रहित, सर्वव्यापक और स्वप्रकाश है। तुणातीत अवस्थामें समाधि द्वारा मुक्तिगण—भक्तजन उस धामका दर्शन करते हैं।

बाया ! कृष्णकी कृपा विना गोलोकका दर्शन नहीं होता। कृष्णने कृपा करके ब्रजवासियोंको गोलोकका का दर्शन कराया था। वह गोलोक प्रकृतिसे अतीत पर विशेष परम धाम है। उस लोककी विचित्रताएँ नित्यसत्य स्वरूप हैं अनन्त चिद्विलास हैं। चिन्मय ज्योति—ब्रह्म सनातनरूपमें वहाँ प्रभा (अंग ज्योति) के रूपमें वर्तमान हैं। जड़से निवृत्त हुए भक्तजन जड़ीय सम्बन्धसे रहित हो जाने पर उस विशेष तत्त्व का दर्शन करते हैं।

विजय—‘क्या सभी मुक्त पुरुष गोलोकका दर्शन कर सकते हैं?’

गोस्वामी—‘करोड़ो मुक्त पुरुषोंमें से कोई विरला ही भगवद्वक्त होता है। अष्टांगज्योग और ब्रह्मज्ञान का साधन कर मुक्त होनेवाले जीव ब्रह्मधारमें ही आत्म विमृति भोग करते हैं अर्थात् जैसे सुमुति अवस्थामें मनुष्य अनुभव-शक्ति ज्ञान-शक्ति और इच्छाशक्ति आदि से रहित होकर निश्चेष्ट पड़ा रहता है, उसी प्रकार ब्रह्मधारमें प्राप्त जीव आत्म विस्मृत होकर जड़ पिण्डकी भौति पड़े रहते हैं। इनकी तो बात ही क्या, ऐश्वर्यपर भक्त भी गोलोकको देख नहीं पाते हैं। ऐश्वर्यभावयुक्त भक्त वैकुण्ठमें अपने अपने भावानुरूप ऐश्वर्यमूर्तिकी सेवा करते हैं। जो ब्रजरस द्वारा कृष्णका भजन करते हैं उनमें से भी जिनको कृष्ण कृपा करके अशेष मायावन्धनसे मुक्त कर देते हैं, वे महाभागा जीव ही गोलोकका दर्शन पाते हैं।

विजय—‘अच्छी बात है, यदि इस प्रकार के

मुक्त भक्तोंके सिवा दूसरे गोलोक नहीं देख सकते हैं, तब श्रीब्रह्मसंहिता, हरिवंश, पद्मपुराण आदि शास्त्रोंमें गोलोकका वर्णन किया गया है। जब ब्रजभजन से ही कृष्णकी कृपा होती है, तब गोलोकका उल्लेख करनेका प्रयोजन ही क्या था?

गोस्वामी—जिन ब्रजरसके रसिक भक्तोंको कृष्ण इस प्रपञ्चसे उठाकर गोलोकमें ले जाते हैं, वे गोलोकको सम्पूर्ण स्वप्नमें देख पाते हैं। फिर विशुद्ध ब्रजभक्तजन भी कुछ-कुछ गोलोक दर्शन करते हैं। भक्त दो प्रकारके होते हैं—साधक और सिद्ध। साधकोंको गोलोक दर्शनका अधिकार नहीं है। निद्ध भक्त दो प्रकारके हैं अर्थात् वस्तुसिद्ध भक्त और स्वरूपसिद्ध भक्त। जो कृष्णकी कृपासे साक्षात् गोलोक में लाये गये हैं, वे वस्तुसिद्ध भक्त हैं। जो गोलोक-का स्वरूप तो देख रहे हैं, परन्तु स्वयं अभी प्रपञ्चमें ही अवस्थित है, साक्षात् गोलोकमें उपस्थित नहीं है। कृष्णकी कृपासे उनके भक्तिनेत्र क्रमशः खुल रहे हैं; अतएव उनके अधिकार अनेक प्रकारके हैं। कोई थोड़ा देख रहे हैं, कोई कुछ अधिक देख रहे हैं, कोई कोई और भी अधिक देखते हैं। जिनके प्रति कृष्णकी जितनी ही अधिक कृपा होती है, वे उतनी ही अधिक मात्रामें गोलोकका दर्शन करते हैं। जहाँ तक भक्तिकी साधनावस्था है, वहाँ तक गोकुलमें जो कुछ दर्शन होता है, वह कुछ-कुछ मायिक भाव-से उद्दित होता है। साधनावस्थाको पार कर भावावस्थामें पहुँचनेपर कुछ-कुछ शुद्धरूपमें दर्शन होता है और प्रेमावस्थामें पहुँचनेपर तो प्रचुर परिमाणमें दर्शन होने लगता है।

विजय—'प्रभो ! गोलोक और ब्रजमें किन-किन विषयों में भेद है ?

गोस्वामी—'ब्रजमें जो कुछ देखते हो, वह सब-कुछ गोलोकमें है। दर्शकोंकी निष्ठाके भैदसे उन-उन विषयोंमें कुछ-कुछ भिन्न दर्शन होता है वास्तवमें गोलोक और ब्रजावनमें भेद नहीं है। दर्शकोंकी दृष्टि भैदसे हश्यका भेद होता है। अत्यन्त तमोगुणी व्यक्ति ब्रजमें सबको जड़मय देखता है। रजोगुणी

व्यक्ति पहलेकी अपेक्षा कुछ शुभ दर्शन करते हैं और सत्त्वानुगामी व्यक्ति अपनी दृष्टिशक्तिके अधिकारके अनुसार अर्थात् जितनी दूरतक दृष्टि है, उतनी दूरतक शुद्धसत्त्वका दर्शन करते हैं। प्रत्येक मनुष्यका अधिकार पृथक् है, अतएव उसका दर्शन भी पृथक् है।'

विजय—'प्रभो ! कुछ-कुछ अनुभव होता तो है, परन्तु एक उदाहरण देकर इस विषयको और भी स्पष्ट करनेकी कृपा करे। यद्यपि जड़ जगत्के विषय चिज्जगतके विषयोंके लिये सम्पूर्ण उदाहरण नहीं बैठते, फिर भी एक देशीय इंगित पाने पर भी सर्व-देशीय अनुभूति उद्य होती है।'

गोस्वामी—'बड़ी कठिन समस्या है। अपनी रहस्य-अनुभूतिको दूसरोंके निकट प्रकट करनेका निषेध है। तुम भी कृष्णकृपासे कोई रहस्यानुभूति होने पर उसे सर्वदा छिपाकर रखना। इस विषयमें हमारे पूर्वीचार्योंने जितना तथ्य प्रकाश दिया है, मैं भी तुम्हें वहाँ तक बतलाऊँगा; उससे अधिक जो कुछ है, वह तुम भगवान्की कृपासे स्वयं ही देख सकोगे। गोलोकमें शुद्ध चित् प्रतीति है। वहाँ पर जड़ प्रतीति नामकी कोई चीज ही नहीं है। चित्तशक्तिने रसकी पुष्टिके लिये जिन विचित्र भावोंका प्रकाश किया है, उनमें अनेक स्थलोंमें अभिमान नामकी एक सत्ता है। गोलोकमें कृष्ण अनादि और अन्मरहित हैं। तथापि वहाँ पर नन्द और यशोदारूप लीलासहायक सत्त्व-समूह पितृत्व और मातृत्व अभिमान द्वारा दशसलरसको मृत्तिमान किये हुये हैं। शृंगारसमें विप्रलभ्म और संभोग आदि विचित्रताएँ अभिमान के रूपमें वर्तमान हैं। वहाँ परकीय भावमें शुद्ध स्वकीयत्व रहने पर भी परकीय अभिमान और औपपत्ति अभिमान नित्य वर्तमान हैं। देखो, ब्रजमें वे सब अभिमान (मायिक दर्शनमें) स्थूलरूपमें दिखलाई पड़ते हैं। यशोदाका प्रसव, कृष्णका सूति-कागृह, अभिमन्यु, गोवर्धन आदिके साथ नित्यसिद्धा गोपियोंका विवाहमूलक परकीय अभिमान—यह सब कुछ अत्यन्त स्थूलरूपमें दिखलायी पड़ता है। यह

सब कुछ योगमाया द्वारा सम्पादित हुआ है तथा अत्यन्त सूक्ष्म मूलतत्त्वसे संयोजित है। इसमें तनिक भी मिथ्या नहीं हैं एवं गोलोकके सर्वथा अनुरूप हैं। केवल द्रष्टाको प्रपञ्चबाधाके अनुसार दर्शन-भेद मात्रा है।

विजय—‘तब क्या अष्टकालीन लीलामें यथायोग्य संशोधन करके विषयोंकी भावना करनी होगी?’

गोस्वामी—‘नहीं, ऐसी बात नहीं है। जिसको जिस रूपमें ब्रजलीलाका दर्शन होता है, वे उसी रूपमें अष्टकालीन लीलाका स्मरण करेंगे। भजनके बलसे साधकके हृदयमें कृष्ण कृगाद्वारा अपने आप लीला स्फूरित होती है। अपनी चेष्टासे लीलाके भावोंमें संशोधन करनेकी आवश्यकता नहीं है।’

विजय—‘याहशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति ताहशी’ इस न्यायके अनुसार साधनकालमें जैसा ध्यान होता है, उसीके अनुरूप सिद्धि होती है। अतएव संशोधित निर्मल गोलोकके ध्यानकी आवश्यकता है—ऐसा प्रतीत होता है।’

गोस्वामी—‘तुम ठीक कह रहे हो। ब्रजमें जो सब प्रतीतियाँ हैं, वे शुद्ध तत्त्वमूलक हैं, उनमेंसे एक भी शुद्ध तत्त्वके विपरीत नहीं हैं। यदि वे विपरीत होतीं तो दोष होता। साधन शुद्ध होनेसे सिद्धि होती है। साधन ध्यान जितना ही शोधित होता है, उतनी ही शोध सिद्धि होती है। साधन कार्य जिसमें सुन्दर रूपसे सम्पन्न हो सके, उसके लिये प्रयत्न करो। परन्तु शोधन करना तुम्हारी शक्तिसे बाहरही बात है। अचिन्त्य शक्तिमय कृष्ण ही वैसा कर सकते हैं। स्वयं ऐसा करनेकी चेष्टा करनेमें तुम ज्ञानहृषी काँटेदार झाँडियोंमें फँस जाओगे और यदि कृष्ण कृग करेंगे तो वैसा बुरा फल नहीं होगा।’

विजय—‘आज मैं धन्य हुआ। एक बात और पूछना चाहता हूँ। पुरकी खियोंका आश्रयस्थल वैकुंठ ही है आश्रवा गोलोकमें भी उनका आश्रय है?’

गोस्वामी—‘चिज्जगतके वैकुंठमें अशेष आनन्द-

की प्राप्ति होती है। वैकुंठसे ऊँची कोई और दूसरी प्राप्ति नहीं है। वहीं पर द्वारका आदि पुरियाँ हैं। पुर-वनिताएँ पुरस्थित अपने-अपने महलोंमें कृष्णकी सेवा करती हैं। ब्रजरमणियोंके सिवा (मधुर रसमें) और दूसरे किसी की भी गोलोकमें स्थिति नहीं है। ब्रजमें जो जो लीलाएँ हैं, गोलोकमें वे सब प्रकारकी लीलाएँ हैं। गोलोकके अंतर्गत माधुरपुर लीलामें रुविमणीजीकी स्वकीय रसमें स्थिति है—ऐसा गोपालतापिनीमें उल्लेख है।’

विजय—‘प्रभो! मैं ब्रजमें जिस प्रकार परकीय व्यापार देख रहा हूँ, क्या गोलोकमें भी ठीक इसी प्रकार सब कुछ है?’

गोस्वामी—‘ठीक इसी प्रकारसे है, परन्तु केवल माया-प्रत्ययित अंश नहीं है। वैसा नहीं रहने पर भी उन प्रत्ययोंका (धारणाओंका) एक-एक चिन्मय विशुद्ध मूल है। मैं उसे कह नहीं सकता। तुम उसे भजन-बलसे जान सकोगे।’

विजय—‘प्रपञ्च जगत सम्पूर्ण रूपसे महाप्रलयमें अन्तर्दित हो जाता है, अतएव ब्रजलीलाका साम्रत-भाव कैसे नित्य है?’

गोस्वामी—‘ब्रजलीला दोनों प्रकारसे नित्य है, साम्रतप्रतीति अनन्त ब्रह्माण्डमें चक्रकी भाँति घूमती हड्ड वर्तमान है। किसी ब्रह्माण्डमें जो लीला अभी हो रही है, वही दूसरे लीलाण्डमें पहुँच जाती है। इस प्रकार यह लीला पहले ब्रह्माण्डमें अप्रकट लीला है, परन्तु वही दूसरे ब्रह्माण्डमें प्रकट लीलाके रूपमें वर्तमान है। इसी प्रकार समस्त प्रकारकी प्रकट लीलाओंकी नित्यता है। अप्रकट अवस्थामें भी समस्त लीलाएँ नित्य वर्तमान हैं।’

विजय—‘यदि सभी ब्रह्माण्डोंमें प्रकट लीला होती है, तो क्या प्रत्येक ब्रह्माण्डमें एक-एक ब्रज-धाम है?’

गोस्वामी—‘हाँ है। गोलोक स्व-प्रकाश वस्तु है। वे प्रत्येक ब्रह्माण्डमें लीला धाम रूपमें वर्तमान हैं। पुनः सभी भक्तोंके हृदयमें भी गोलोक प्रकटित हैं।’

विजय—‘जिस ब्रह्माण्डमें लौला अप्रकट है, घाम वर्तमान रहते हैं।’
वहाँ पर माथुर मण्डल क्यों प्रकट रहते हैं?’

गोस्वामी—‘वहाँ पर अप्रकट लौला नित्य वर्तमान होती है। वहाँके भक्तोंके प्रति कृपा करके

उस दिन यहीं तक बातें हुईं। विजयकुमार अष्टाकालीय सेवाकी चिन्ता करते-करते वासस्थानको लौटे।

श्रीश्रीआचार्य देवका दीक्षान्त भाषण

[जगद्गुरु अंबिष्णुपाद श्रीलक्ष्मस्तवती गोस्वामी ‘प्रभुपादकी विरह-तिथिके अवसर पर]
(पूर्व-प्रकाशित वर्ष ५, संख्या १०-११, पृष्ठ २४३ के आगे)

समस्त दर्शन शास्त्रोंने ही परतत्त्वकी आलोचनाएँ की हैं तथा सबने इस विषयमें अपना-अपना पृथक्-पृथक् दृष्टिकोण स्थापन किया है। परन्तु विचारने की बात है कि वान्तव्यमें किसको परतत्त्व स्वीकार किया जाय ? निरपेक्ष होकर समस्त दर्शनिकोंके विभिन्न विचारोंका—जिन्हें उन्होंने प्रतत्त्वके सम्बन्ध में व्यक्त किये हैं—बारीकीसे अध्ययन किया जाय, तो इस निष्कर्ष पर पहुँचा जायगा कि परतत्त्वके सम्बन्धमें वेदान्त दर्शनका विचार ही सर्वश्रेष्ठ है। दुःखका विषय है, एक ही वेदान्त-दर्शनके विभिन्न भाष्यकारों, टीकाकारों और समालोचकोंमें भी परस्पर मतभेद है। कहीं-कहीं ये मतभेद इतने व्यापक हो पड़े हैं कि वे परस्पर एक-दूसरे के ठीक विपरीत दृष्टिगोचर होते हैं। इतना होने पर भी यह गौरवके साथ कहा जा सकता है कि इस विषयमें वेदव्यासजी का विचार ही सर्व-सम्मत है। विभिन्न भारतीय दर्शनिकोंके विचार-समूह कृष्णद्वायामके विचारों से बुरी तरह परामूlt हुए हैं। यही कारण है कि हमारे देशके धार्मिक सम्प्रदायमें किसी अन्य दर्शनका प्रचार नहींके बराबर है। तथापि सांख्य, पातकजल न्याय और वैशेषिक आदि दर्शनोंकी कुछ कुछ आलोचना हमारे देशमें होती है, परन्तु ऐसे आलोचकोंकी संख्या नगन्य है। ये सभी वेद-विरोधी हैं; अतएव व्यास-विरोधी हैं। इसीलिये भारतमें वे परिषद्गत कहे-

जाने पर भी भारतीय वैदिक धर्मके अनुकूल नहीं माने गये हैं।

सांख्य और न्याय-दर्शनोंने विश्वके कार्य-कारण विचारके क्षेत्रमें वैदिक-मतका खण्डन करनेका भी दुस्साहस किये हैं। इन दर्शनोंमें साधारणयुक्तिकी अपेक्षा लौकिक युक्तिकी प्रधानता होने पर भी शास्त्रीय-युक्तिकी तुलनामें वे नितांत अकिञ्चित्कर ठहरती हैं। साधारण युक्तिके क्षेत्रमें चार्वाक आदि अनेक ऋषियोंके नाम शीर्ष-स्थानमें दिखलायी पढ़ते हैं। परन्तु शास्त्रीय-युक्तिकी बात तो अलग रहे, लौकिक युक्तियोंके सामने ही इनको करारी झार लानी पड़ी है। हम साधारणतः सब जगह Common Sense की बातें करते हैं। परन्तु इस Common Sense में भी प्रचुर तारतम्य है। Legal Common Sense, Social Common Sense, Natural Common Sense, Philosophical Common Sense आदि समस्त प्रकार के Common Sense से Scriptural Common Sense अर्थात् शास्त्रीय Common Sense (साधारण ज्ञान) का श्रेष्ठत्व है। शास्त्रीय Common Sense या वैदिक युक्तिमें प्रतिष्ठित हुए विना सर्वोत्तम-विचार चुन लेना सर्वथा असंभव है। जो जितने ही अधिक शास्त्र-युक्ति के ऊपर प्रतिष्ठित हैं, वे जगतको उतनी ही उन्नत विचार-धारा दे-

सके हैं। और बदलेमें भारतधासियोंके उतने ही अधिक प्रिय और आदरके पात्र हो सके हैं। कलिकी प्रबलतासे चिन्ताधारा कमशः निम्न स्तर पर उतर रही है; और निम्नस्तरीय चिन्ताधाराओंका ही आज कल अधिक आदर है; फिर भी उच्च चिन्ताधाराके सामने निम्न चिन्ताधाराका मस्तक सदा से नीचे रहता आया है, और रहेगा। ऐषु वस्तुकी अल्पता होने पर भी उसका अभाव या पराभव नहीं है। निम्न-चिन्ताधाराकेव्यक्ति उन्नत चिन्ताका आदर करनेके लिये बाध्य हैं, वे उसे प्रहण करें अथवा न करें—यह बात दूसरी है।

परतत्त्वके एकत्त्वके सम्बन्धमें श्रीप्रभुपादकी शिक्षा

परतत्त्वकी आलोचनाके लेखमें भी विचारधाराके तारतम्यानुसार परतत्त्वका तारतम्य लिया जाता है। इस विषयमें सावधानी बरतनी होगी कि चिन्ताधाराके तारतम्यके कारण परतत्त्वका तारतम्य कहनेसे परतत्त्व अनेक हैं—ऐसा नहीं समझना होगा। वस्तु एक है; केवल प्रतीतिगत वैषम्य द्वारा उसकी विभिन्नता प्रकाश मात्रकी जाती है। यदि कोई हाथी-का पिछला भाग देखकर उसकी पूँछको अथवा पिछले दोनों पैरोंको हाथी बतलावे, कोई सामनेसे देख कर

उसके सूँड या कानको हाथी कहे अथवा कोई अगल-बगलसे देख कर उसे सूँड, नेत्र और पूँछ आदि से रहित विराट लम्बे-चौड़े और मोटे पेड़के घड़के समान विराट आकृतिको हाथी कहे, तो इनमेंसे ग्रत्येककी हाथीकी धारणा आंशिक है—पूर्ण हाथीकी धारणा नहीं है। उसी प्रकार वेदान्त-दर्शनके विभिन्न भाष्योंकी यही स्थिति है। परन्तु एक और भी अलौकिक भाष्य है जिसकी रचना वेदान्त-दर्शनके प्रणेता श्रीकृष्णद्वयायन वेदव्यासने स्वयं की है और उसका नाम है—‘श्रीमद्भागवत’। श्रीमद्भागवत—वेदान्त दर्शनका सर्वदेशीय और अकृत्रिम भाष्य है। इस श्रीमद्भागवतके श्यारहवें स्कन्धमें व्यासदेवने विभिन्न चिन्तास्थोत्रादियोंकी धारणाओंका तारतम्य प्रदर्शन किया है—

वदन्ति तत्त्वत्त्विदस्तत्त्वं यज् जानमद्यम् ।

ब्रह्मेति परमामेति भगवानिति शब्दवते ॥

आचार्य कुल-मुकुटमणि श्रीजीव गोस्यामीपादने इस श्लोकका तात्पर्य चार ग्रन्थोंमें लिपिच्छद किया है। आप लोग हन चारों ग्रन्थोंका भलीभाँति अनुसंधान कर उन श्लोकका तात्पर्य अनुसंधान करेंगे। मैं संक्षेपमें दो-एक बातें इस सम्बन्धमें निवेदन कर रहा हूँ।
(क्रमशः)

प्रचार-प्रसंग

श्रीगौडीय वेदान्त समितिके नियामक और संस्थापक आचार्य उंविष्णुपाद परमहंस १०८ श्रीश्री मद्भक्ति प्रज्ञान केशव गोपनीय महाराज आजकल मेदिनीपुर (पश्चिम बंग) के सुदूर प्राम अंचलमें श्री-चैतन्य महाप्रभुकी प्रेम वाणीका बड़े जोर-शोरसे प्रचार कर रहे हैं। २०-२५ ब्रह्मचारी गृहस्थ, वानप्रस्थी और संन्यासी भक्तजन उनके माथ-साथ भ्रमण कर रहे हैं। इनकी यह प्रचार-यात्रा विगत ६ वैशाख, १६ अप्रैल, १९६० से आरंभ हुई है। प्रतिदिन अपने पदाव पर अथवा किसी सार्वजनिक स्थान पर संकीर्तनके पश्चात्

श्रीश्री आचार्यदेवके भाषण और प्रवचन होते हैं। अभी तक ३२ दिनोंमें विभिन्न स्थानोंमें ३२ भाषण दे चुके हैं। वे स्थान हैं—केशवपुर जलपाइया, आमतल्या नन्दीगाँव, भेटूरिया, खोदामबाड़ी, सौंदर्वाड़ी, पूर्वचक, मोहाटी, डिसिमुलिया, एहासाल, कुलवाड़ी, पिछलादा, नरचाकनान, तेरपैख्या, कल्याणपुर, मलुवसान, तमलुक (ताल्लिप्रि)। अब वे २४ परगनाके अन्तर्गत डाइमण्ड हारवर, काकड़ीप, मुन्दरवन आदिके गाँवोंमें प्रचार-यात्रा प्रारंभ करने जा रहे हैं।

—निजस्व संवाददाता